उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—२ अप्रैल, १९८३ अंक—४

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५१ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु०

रचनाएं एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्री रामकृष्ण ने कहा है

(१)

सादे कांच में किसी वस्तु का चित्र नहीं उतरता, परन्तु उसमें यदि मसाला लगा हो तो बराबर उतरता है, जैसे फोटो का कांच। इसी प्रकार शुद्ध मन में यदि भक्तिरूपी मसाला लगा रहे, तो भगवान का रूप आदि प्रत्यक्ष होता है। नहीं तो केवल शुद्ध मन में भक्ति के बिना भगवान का रूप देखने में नहीं आता।

(२)

जिसकी भगवान में भक्ति हो गयी है, उसका भाव कैसा होता है, जानते हो ?--मैं यन्त्र हूँ, तुम यन्त्री हो; मैं घर हूँ, तुम घरवाले हो; मैं रथ हूँ, तुम रथी हो; जैसा कहलाते हो, वैसा ही कहता हूँ, जैसा कराते हो, वैसा ही करता हूँ; जैसा चलाते हो, वैसा ही चलता हूँ।

(३)

माँ के पांच बच्चे हैं। उसने किसी को खिलौना, किसी को गुड़िया और किसी को खाना देकर भुला रखा है। उनमें से जो खिलौना फेंककर 'माँ-माँ' कहकर रोने लगता है, माँ झट उसे गोदी में उठाकर शान्त करने लगती है। हे जीव, तुम कामिनी-कांचन में भूले हुए हो। यह सब फेंककर जिस समय तुम जगन्माता के लिए रोने लगोगे, उसी क्षण वह आकर तुम्हें गोदी में ले लेगी।

(४)

धन आदि मुझे नहीं मिला, मुझे लड़का नहीं हुआ, यह कह-कहकर लोग आँसुओं की धारा बहाया करते हैं, परन्तु मुझे भगवान नहीं मिले, उनके चरण कमलों में मेरी भक्ति नहीं हुई, यह कहकर क्या कोई अपनी आँखों से एक बूँद भी आँसू गिराता है ?

परब्रह्म स्तोत्रम्

ॐ नमस्ते सते सर्वलोकाश्रयाय नमस्ते चिते विश्वरूपात्मकाय ।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय नमो ब्रह्मणे व्यापिने निर्गुणाय ॥१

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं त्वमेकं जगत्कारणं विश्वरूपम् ।
त्वमेकं जगत्कर्तृपातृप्रहर्तृ त्वमेकं परं निष्कलं निर्विकल्पम् ॥२

भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।
महोच्चैः पदानां नियंतृ त्वमेकं परेषां परं रक्षकं रक्षकाणाम् ॥३

परेश प्रभो सर्वरूपाविनाशिन्नानिर्देश्य सर्वेन्द्रियागम्य सत्य ।
अचिंत्याक्षर व्यापकाव्यक्ततत्त्व जगद्भासकाधीश पायादपायात् ॥४

तदेकं स्मरामस्तदेकं भजामस्तदेकं जगत्साक्षिरूपं नमामः ।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्बोधिपोतं शरण्यं व्रजामः ॥५

पंचरत्नमिदं स्तोत्रं ब्रह्मणः परमात्मनः ।
यः पठेत्प्रयतो भूत्वा ब्रह्मसायुज्यमाप्नुयात् ॥६

भावार्थ—ॐ हे, सकल संसार के आश्रय, सत्स्वरूप ! तुम्हें नमस्कार है। हे, विश्वरूपात्मक चित्स्वरूप ! तुम्हें नमस्कार है। हे, अद्वैत तत्त्वस्वरूप एवं मुक्तिदाता तुम्हें नमस्कार है। हे, सर्वव्यापी निर्गुण ब्रह्म ! तुम्हें नमस्कार है ।१

इस संसार में एकमात्र तुम्हीं आश्रयस्थल हो, एकमात्र तुम्हीं वरेण्य हो, एकमात्र तुम्हीं जगत् के कारण और विश्वरूप हो, एकमात्र तुम्हीं संसार के स्रष्टा, पालक और संहारक हो, एकमात्र तुम्हीं सर्वश्रेष्ठ निष्कल एवं निर्विकल्प हो ।२

एकमात्र तुम्हीं भयसमूहों के भय, भीषणगणों के मध्य भीषणतम, प्राणियों की गति, पवित्रों के पवित्र, अत्यन्त उच्च पदों से अधिष्ठितों के विधाता, श्रेष्ठों में श्रेष्ठतम एवं रक्षकों के रक्षक हो ।३

हे परमेश्वर, प्रभु, विश्वरूप, अविनाशी, अनिर्देश्य, समस्त इन्द्रियों के लिए अगम्य, सत्य, अचिन्त्य, अक्षर, व्यापक, अव्यक्त तत्त्व, जगत्-प्रकाशक अधीश्वर—अनिष्ट होने पर तुम हमलोगों की रक्षा करो ।४

उसी अद्वितीय का हम स्मरण करते हैं, उसी अद्वितीय का भजन करते हैं, उसी अद्वितीय, जगत् के साक्षी स्वरूप को हम प्रणाम करते हैं, सत्स्वरूप, निधान, निरालम्ब, परमेश्वर, भवसागर की नाव और आश्रय स्वरूप का हम आश्रय ग्रहण करते हैं ।५

जो एकाग्रचित्त से परब्रह्म परमात्मा के इस पंचरत्न स्तोत्र का पाठ करेंगे, वे ब्रह्मसायुज्य को प्राप्त करेंगे ।६

सम्पादकीय सम्बोधन

तेरा साईं तुज्झ में

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

एक कहानी कहीं पढ़ी थी। किसी जंगल से दो शिकारी गुजर रहे थे। शिकार को चले थे। बीच जंगल में पहुँचने पर एक शिकारी ने दूसरे से कहा—'मित्र, जंगल तो बड़ा भयानक हैं।' दूसरे ने कहा—'हाँ'। और दोनों आगे बढ़ गये।

शिकारियों की बातें कुछ पेड़ों ने सुनीं। घबड़ा गये वे। हैरान हो गये। जंगल क्या चीज होती है? क्या वह बाघ, सिंह या आदमियों से भी अधिक भयानक, खतरनाक होता है? उनकी घबड़ाहट बढ़ती गयी। अन्त में आम के पेड़ ने कटहल से कहा—'कुछ सुनी तुमने, उन शिकारियों की बातें? यहाँ कोई जंगल आ गया है। भयानक है। उससे बचना चाहिए। मगर क्या तुमने जंगल देखा है?' कटहल तो साफ नकार गया। उसने कभी जंगल देखा ही नहीं था। फिर एक-एक कर बाँस से, बबूल से, जामुन से, अमरूद से पूछा गया। किसी को जंगल का पता नहीं था। तब सियार से पूछा गया—'भाई, तुम पंडित हो। तुम ने जंगल देखा है?' उसने कहा—'मैं यहाँ हर पेड़ को जानता हूँ। गाँवों और शहरों में भी कभी-कभार चला जाता हूँ। पर्वत और नदियों को भी जानता हूँ। मगर जंगल तो मैंने कहीं नहीं देखा।' बाघ और सिंह ने भी अपनी अज्ञानता जतायी। साँप ने कहा—'मैं पाताल तक जाता हूँ। जंगल कहीं नहीं है।' अन्त में सब बूढ़े बरगद के वृक्ष से पूछा। अपनी अज्ञानता में वह भी मौन हो गया। फिर बोला—'भाई, मेरा अनुभव बताता हैं कि आदमी का कभी विश्वास मत करो, उसकी बात पर भरोसा मत करो। वह बड़ा खतरनाक जीव होता है। चालबाज और मक्कार होता है। जो कहीं नहीं है, उसके बारे में बोल कर हम सब में दहशत पैदा कर गया है। लौटें, तो उन दोनों को पकड़ो और तब तक न जाने दो जब तक वे जंगल का पता न दे दें।'

ऐसा ही हुआ। शिकारी लौट रहे थे। उन्हें बाघ सिंह, सियार, साँप और भालू-बन्दर—सबने घेर लिया। सबने गरज-गरज कर, दाँत किटकिटा कर और फूत्कार कर उनसे पूछा—'बताओ, जंगल कहा है?' शिकारियों ने कहा—'जंगल, यही तो जंगल है! तुम सब ही तो जंगल हो।' बाघ ने कहा—'मैं बाघ हूँ, जंगल नहीं।' साँप ने कहा—'मैं साँप हूँ, जंगल नहीं।' आम, बबूल, कटहल सब अपना-अपना परिचय देने लगे। अन्त में शिकारी डर कर बरगद पर चढ़ गये और उसकी फुनगी से कुछ कहा। बरगद शान्त हो गया। एक मौन में खो गया। आत्मलीन हो गया। उसके पत्ते स्थिर हो गये। पूरी आत्मसंस्थता में डूबा रहा थोड़ी देर को वह बरगद और फिर बोला—'छोड़ दो इन्हें। जाने दो। वह जंगल हम ही हैं। वह जंगल तुम ही हो—हाँ, वह तुम ही हो, तत् त्वम् असि, तत्वमसि।'

हमारी हालत इन्हीं पेड़ों की तरह है। ये पेड़-पौधे जीव जन्तु मिलकर जंगल ही तो थे। किन्तु, अपनी पृथकता में हर पेड़ अपने को अलग मानता था, हर पशु अपने को अलग जानता था। मगर, दरअसल वे जंगल ही थे, जिसे उनमें से कोई नहीं जानता था। जंगल की अलग से कोई सत्ता ही नहीं थी। जंगल उन्हीं में था। वे जंगल में ही थे। वे जंगल ही थे। हम भी अपने को नहीं पहचानते। हम अपनी पहचान ही खो बैठे हैं। आज की, सच पूछिये, तो सबसे बड़ी समस्या यही है

कि मनुष्य अपनी पहचान, अपनी शिनाख्त खो बैठा है। वह है तो स्वयं परम प्रकाश, अनन्त चिन्मय आत्मा, अखण्ड आनन्दघन परमात्मा लेकिन वह जंगल के अलग-अलग पेड़ या पशु की तरह अपने को हाड़-मांस का मात्र एक पुतला मान कर रह गया है। वह जो है उसे जानता नहीं, और जो नहीं है, उसे मान कर सुख के लिए, आनन्द के लिए, शान्ति के लिए, उपरामता के लिए, परम विश्रान्ति के लिए छटपटा रहा है, सिर धुन रहा है। कभी वह पहाड़ों पर जा रहा है, कभी समुद्री-तट पर, कभी मन्दिरों में, मस्जिदों में, गिरजों में और कभी तीर्थों को निकल पड़ता है। पहचान के संकट के कारण ही यह भ्रम है, भ्रमण है, भटकाव है।

महात्मा कबीर ने अपने को पहचान था। अपने को जाना था। सारी समस्या अपने को जानने की है। जिसने अपने को जान लिया, उसने सब जान लिया। फिर उसे कुछ और जानना शेष नहीं। उसे कुछ और जानने की जरूरत नहीं, दरकार नहीं। अपने को जान लेने पर महात्मा कबीर ने उद्घोष किया—

तेरा साईं तुज्झ में ज्यों पुहुपन में वास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों फिरि-फिरि सूंघै घास॥

तुम्हारा स्वामी, तुम्हारा देवता, तुम्हारा ईश्वर तुम्हीं में है। वह तुमसे अलग नहीं, भिन्न नहीं, पृथक् नहीं। वह तुमसे अभिन्न है, अपृथक् है, एकमेक है। जैसे सारी सुगंध, सारी खुशबू फूल में ही निहित है। सुगंध पुष्प से भिन्न नहीं, वह तो मात्र उसकी अन्तर्मधुता का उच्छ्वास है। सुगंध फूल की अन्तचेतना का, आत्मसत्ता का, आत्मतत्व का प्रकाश है, बाह्य प्रसार है। इसीलिए फूल में आत्म-मुग्धता है, विश्रान्ति है। आपने कभी फूलों को देखा है? अपनी डाल पर खिले हुए फूलों को, गुलाब को, गेंदे को, जुही, चमेली या मोगरे को देखा है? आप हँसेंगे। खिले फूलों को किसने नहीं देखा है? नहीं, हम बहुत कुछ देख कर भी नहीं देखते और नहीं देखकर बहुत कुछ देख लेते हैं। आप गौर से देखें। उनके निकट जायें। ठहर जायें थोड़ी देर तब वे फूल अपना रहस्य, अपनी मुग्धता का राज आप से कहेंगे। कभी ये फूल, खिले हुए फूल मुझे बेचैन नहीं दिखे। खिले हैं, केवल खिले हैं अपनी डाल पर। शान्त हैं, मुग्ध हैं, मुस्कुरा रहे हैं, झूम रहे हैं, रस-गंध की वर्षा कर रहे हैं, लुटा रहे हैं अपने मूलाधार से निकाल कर अपनी अमृत-गंध। मुझे ये फूल, ये खिले फूल सदैव आत्मानन्द में डूबे, किसी समाधि-मग्न परमहंस से लगे हैं। आप इनकी ओर देखें तो ठीक, न देखें तो भी ठीक। ये तो खिल गये हैं। अब इन्हें औरों की क्या चिन्ता?

जिसे अपनी पहचान हो गयी, वह खिल गया।
जो खिला है, उसे अपनी पहचान हो गयी है।
जो खिला है, वह अपने में मग्न है।
जो स्व में मग्न है, स्थित है; रस और गंध की
वहीं से वर्षा होती है
जो खिल गया है, वह विश्रान्ति में है, आनन्द
में है, ईश्वर में है।

इसलिए, मुझ हर खिला हुआ फूल अपनी चरमता, परमता को उपलब्ध किसी महात्मा की तरह लगता है। स्वयं ईश्वर की तरह लगता है। कालिदास ने हिमालय को शिव का अट्टहास कहा है। मैं खिले हुए फूलों को शिव की स्मिति, शिव की मंद-मधुर मुस्कान कहता हूँ। जिसे भी अपनी पहचान हुई है, शिव उसे अपने में उतरा हुआ लगा है। जिसे भी अपनी अभिज्ञता हुई है उसने अपने को शिव से एकात्म जाना है। तेरा साईं तुज्झ में…।

सुगंध केवल फूलों की सम्पत्ति नहीं है। केवल फूलों की मल्कियत नहीं है सुगंध पर। सुगंध सब की सम्पत्ति है। सबकी मल्कियत है सुगंध पर। लेकिन जरूरत है उसे पहचानने की, परखने की। कबीर एक दूसरा उदाहरण देते हैं। कस्तूरी का मिरग ज्यों… …। सुगंध, कस्तूरी की मनमादक, रस भीनी सुगंध, चित्तावर्जक हियहारी सुगंध हिरण में ही है। खुशबू—मीठी खुशबू मृग में ही है। मगर काश! उसे इसकी अभिज्ञा होती, पहचान होती, जानकारी होती। एक सुगंध की जानकारी से गुलाब प्रशान्त हो गया, समाधि-मग्न हो गया और परम विश्रान्ति में प्रतिष्ठित हो गया और एक सुगंध की जानकारी नहीं रहने के कारण मृग भटक रहा है, वन-वन भटक रहा है, जंगल-जंगल चक्कर काट रहा है।

मिट्टी सूँघता चलता है, घास की जड़ें सूँघता चलता है—बड़ा बेचैन है, विकल है। वह जानता ही नहीं—तेरा साईं तुज्झ में··· ···।

हमारी विकलता का मूल कारण यही है कि जो हममें है, जो हम हैं, जो हमारा मूलस्वरूप है उसे हम जानते नहीं और अपनी अस्मिता, अपने अस्तित्व अपने 'स्व' का संधान, अपने तत्व की तलाश बाहर करने जाते हैं। और बार-बार, हजार बार दुनियाँ के चक्कर हम लगा डालें, मन्दिरों में सिर पटकते रहें, हमें अपने रूप की, अपने 'स्व' की पहचान नहीं हो सकती। तेरा साईं तुज्झ में···।

हमारा परमात्मा, हमारा ईश्वर हमसे अलग नहीं, हमी में है। यह बात हमारे ऋषियों ने बार-बार कही है। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।' एकमात्र ब्रह्म ही सच है, संसार मिथ्या है और जीव तथा ब्रह्म अलग नहीं, अभिन्न हैं। यह बात हममें से हर किसी ने सुनी है। कितनी ही बार सुनी है। हाँ, सुनी है। लेकिन सुनने की नहीं, यह समझने की बात है। यह सूचना पाने की नहीं, जानने की बात है।

हमारे पूर्वजों ने इस सत्य को जाना था। इस वेद का प्रत्यक्षीकरण किया था और तब उन्होंने मंदिर बनवाये। वे ज्ञानी थे। जानते थे कि भाषाएँ बदलती हैं, बदलती रहेंगी। फिर सभी मनुष्य कभी एक भाषा नहीं जान पायेंगे। इसलिए उन्होंने अपनी अनुभूति को, सत्योपलब्धि को स्थापत्य के शिल्प में ढाल दिया। वैदिक युग से अबतक कितनी भाषाएँ बदलीं, मगर मंदिर नहीं बदले, मस्जिदें नहीं बदलीं। ये मंदिर हमारी देह के प्रतीक हैं। देह ही देवालय है, शरीर ही हमारा शिवालय है। शिवालय के भीतर जायें तो शिव का दर्शन हो, भगवान का दर्शन हो। यानी जैसे मन्दिर में भगवान् की प्रतिमा अधिष्ठित है उसी प्रकार शिव तुम्हारे शरीर के शिवालय में ही प्रतिष्ठित हैं, तुम्हारी देह के देवालय में ही तुम्हारे देवता का, ईश्वर का अधिवास है। भीतर झाँको, गहरे उतरो, मन की वृतियों को तोड़ो और पाओगे कि ईश्वर तुम्हारे भीतर है, ईश्वर तुम ही हो। इसीसे कहा गया है—यत्र यत्र जीवः तत्र तत्र शिवः। हर व्यक्ति शिव है, हर नारी भगवती उमा है।

आपने मंदिरों मस्जिदों, गिरजा घरों और गुरुद्वारों को देखा है? आपने ख्याल किया है कि क्यों हमारे घर की तरह ये चौकोर नहीं होते? क्यों ये अपने शिखर में पतले होते जाते हैं या गुम्बददार होते हैं? हर मंदिर हमारी देह की आकृति का होता है, हर मस्जिद या चर्च हमारे शरीर की अनुकृति में खड़ा किया गया होता है। इसलिए उसका शिखर हमारे शिर की भाँति होता है जिसमें अनन्त ऊर्जा की तरंगें उठती हैं। ये मंदिर हमें रोकते हैं, ये मस्जिदें हमें इशारा करती हैं, ये चर्च हमें संकेत देते हैं, ये गुरुद्वारे हमें ठहराते हैं। ये कहते हैं, बार-बार कहते हैं कि तुम्ही मंदिर हो, तुम्ही मस्जिद हो, चर्च हो, गुरुद्वारे हो। कहाँ भटक रहे हो, ? अपने मन्दिर के भीतर जाओ, प्रार्थना करो। अपनी मस्जिद के अन्दर जाओ, अजान दो, नमाज पढ़ो अपने चर्च के भीतर जाओ और वन्दना करो। तुम्हें मिलेगा। तुम्हें तुम्हारा ईश्वर मिलेगा। इसलिए सभी धर्मों के अपने-अपने मन्दिर हैं। धर्म यानी विश्वास। तुम अपने विश्वास के अनुसार ही ढूँढो, पुकारो और जानो। अगर तुम भक्त हो तो तुम्हें भगवान मिलेगा, अगर ज्ञानी हो तो अपने स्वरूप की पहचान मिलेगी। कबीर ने इसीसे कहा—मो को कहाँ तू ढूँढे वन्दे, मैं तो तेरे पास में। ना मन्दिर में, ना मस्जिद में, ना काबा कैलास में।

लेकिन क्यों हमें अपने स्वरूप की पहचान नहीं हो पाती? श्रीकृष्ण ने बड़े मधुर ढंग से इस रहस्य को समझाया है

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे ऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया॥

(गीता १८·६१)

हे अर्जुन, ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में सदैव स्थित हैं किन्तु वे माया के कारण अपने शरीर रूपी यंत्र में आरूढ़ होकर भ्रमित हो रहे हैं।

माया ही है, जो हमें अपने भीतर अवस्थित अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं देखने देती। एक बीज को देखकर हम यह जान नहीं पाते कि इसमें कितना बड़ा वृक्ष छिपा हुआ है। छोटा सा बीज। किन्तु, मिट्टी में पड़कर जब वह अपनी बाह्य आकृति को, अहंकृति को गला देता है तब उसके भीतर से वह अंकुरित होता है जो वह है—विशाल वट वृक्ष। एक अंडे को देखकर क्या हम समझ पाते हैं कि जब इसकी पड़तें टूटेंगी तब इसके भीतर से हजार रंगों को अपने डैनों में सजाए कोई मयूर-शावक निकलेगा? बीज बीज है। अंडा अंडा है। इनके ऊपर के छिलकों में कुछ नहीं है। इन्हें टूटने दें, फूटने दें तब इतके भीतर छिपे इनके शुद्ध स्वरूप को हम जान पायेंगे।

अपने भीतर झाँकने के लिए तोड़ना होगा अपने अहंकार को।
अपनी पहचान के लिए गलाना होगा अपने देह-अध्यास को।
अपने ईश्वर को, अपने स्वरूप को जानने के लिए हटाना होगा माया के रेशमी आवरण को।

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—'जबतक पानी गन्दा रहता है तबतक चन्द्र या सूर्य की परछाई उसमें ठीक-ठीक दिखलायी नहीं पड़ती, उसी प्रकार माया अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' यह भाव जबतक दूर न हो जाय, तबतक आत्मा का ठीक-ठीक साक्षात्कार नहीं हो सकता। अन्यत्र वे कहते हैं—'जिस प्रकार इतना बड़ा सूर्य पृथ्वी को प्रकाशित किये रहता है, परन्तु मामूली बादल के छोटे-छोटे टुकड़ों के आते ही दिखलायी नहीं पड़ता, उसी प्रकार सर्वव्यापी और प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्द को हम माया के परदे के कारण देख नहीं पाते।''

यह माया अहं से ही उपजती है, द्वन्द्व भाव से ही उपजती है। यह माया मन की सृष्टि ही है। वास्तविक इसकी कोई सत्ता है नहीं। मन के नियन्त्रण से, अहं टूटता है, द्वैत मिटता है, माया विनष्ट होती है। और माया रहित चित्त में ही ब्रह्म का प्रकाश होता है, ईश्वरानुभूति होती है। स्वामी विवेकानन्द का कथन है—''साधारण जीवों की अवस्था उस नमक के पुतले के समान है, जो समुद्र को नापने गया था और स्वयं ही उसमें घुल गया। समझे न? तात्पर्य यह है कि तुम्हें इतना ही जानना होगा कि तुम वही नित्य ब्रह्म हो। तुम तो पहले से ही वह हो, केवल एक जड़ मन (जिसको शास्त्र ने माया कहा है) बीच में पड़कर तुम्हें इसको समझने नहीं देता। सूक्ष्म जड़रूप उपादानों द्वारा निर्मित मन नामक पदार्थ के प्रशमित होने पर आत्मा अपनी प्रभा से आप ही उद्भासित होती है। यह माया और मन मिथ्या है, इसका एक प्रमाण यह है कि मन स्वयं जड़ और अन्धकार स्वरूप है जो इसके पीछे विद्यमान आत्मा की प्रभा से चैतन्यवत् प्रतीत होता है। जब इसको समझ जाओगे तो एक अखण्ड चैतन्य में मन लय हो जायगा; तभी 'अयमात्मा ब्रह्म' की अनुभूति होगी।''

हमारी सारी चेष्टाएँ इसी बात के लिए हों कि हम अपनी देह और मन और माया की परतों को भेद कर उनके पीछे विराजमान शाश्वत ज्योतिर्मय, अखण्ड आनन्दस्वरूप परमात्मा को जानें, पहचानें और अंत में अपने ईश्वरत्व की अभिज्ञा प्राप्त कर लें। क्योंकि तेरा साईं तुज्झ में.....।

भगवान् श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द जी महाराज इस अद्वैत के बोध में, अपने मूल स्वरूप की पहचान करने में, माया से मुक्त होकर अपनी देह के देवालय में चिर निवास करने वाले परमात्मा को जानने में, हमारी अंतर्दृष्टि के उन्मेष में हमारी सहायता करने की कृपा करें—यही हमारी उनसे आंतरिक प्रार्थना है। जय रामकृष्ण!

आचार्य शंकर और कर्मयोग

—स्वामी वेदान्तानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

किसी-किसी पंडित के मत से आचार्य शंकर की शिक्षा के अनुसरण के फलस्वरूप भारतवासी आलसी, कर्म-विमुख एवं उद्यम-विहीन हो गये हैं। अतएव, वर्त्तमान युग में उनकी शिक्षा को भूल जाने में ही भारत का कल्याण होगा। आचार्य शंकर के विरुद्ध लगाया गया आरोप-अभियोग निर्मूल है यह बात उनके द्वारा रचित गीता भाष्य का का स्थूल रूप से विवेचन करने पर भी समझी जा सकेगी। प्रस्तुत निबन्ध में कर्म के विषय में उनके अभिमत का संक्षेप रूप में विवेचन करूँगा।

आचार्य शंकर ने गीताभाष्य की भूमिका में लिखा है, "वेदोक्त धर्म दो प्रकार का है—एक प्रवृत्ति रूप एवं दूसरा निवृत्ति रूप।" "यह धर्म संसार की स्थिति का कारण और मोक्ष का साक्षात् हेतु है एवं कल्याणकामी ब्राह्मणादि वर्णाश्रम अवलम्बियों द्वारा जिसका अनुष्ठान किया जाता है उसका नाम धर्म है।"

"अपना कोई प्रयोजन न रहने पर भी भगवान् ने भूतों पर दया करने की इच्छा से, यह सोचकर कि अधिक गुणवान् पुरुषों द्वारा ग्रहण किया हुआ और आचरण किया हुआ धर्म अधिक विस्तार को प्राप्त होगा, शोकमोह रूप महत्समुद्र में डूबे हुए अर्जुन को दोनों ही प्रकार के वैदिक धर्मों का उपदेश दिया।"

"जीवों के संसार—दुःख की सर्वतोभावेन निवृत्ति के उपाय का निर्देश करने में ही गीताशास्त्र की सार्थकता है।" सभी कर्मों में संन्यास-पूर्वक आत्मज्ञान में निष्ठा होने से मानव इस चरम लक्ष्य में उपनीत होने में समर्थ होता है। साधारण मनुष्य की ऐहिक उन्नति के लिए जो प्रवृत्तिलक्षण धर्म का उपदेश दिया गया है, अपने लिए किसी फल की कामना नहीं कर—कर्म का फल ईश्वर को समर्पित कर पाने से कर्म करने वाले की चित्तशुद्धि होती है। केवल शुद्धचित्त से कर्म करनेवाले ही ज्ञाननिष्ठा की योग्यता प्राप्त करते हैं। इसलिए, प्रवृत्तिमूलक कर्मसमूह भी ज्ञानोत्पत्ति के कारण रूप में परोक्षभाव से जीवन के चरम लक्ष्य में उपनीत होने में सहायक होता है।

आचार्य शंकर ने स्वरचित गीताभाष्य की भूमिका में कर्म और ज्ञान के विषय में जिस सिद्धान्त को उपस्थापित किया है उसी का उन्होंने गीता के अनेक श्लोकों की व्याख्या में विभिन्न भावों से वर्णन किया है।

गीता के श्लोक समूहों की व्याख्या को लेकर विवेचन आरम्भ करने के पूर्व हमलोगों को यह तथ्य अपने मन में रख लेने की आवश्यकता है कि आचार्य शंकर जिस काल में उत्पन्न हुए थे उस समय कर्म कहने से वैदिक याग-यज्ञादि कर्म एवं पूत कर्म अर्थात् पुण्य-लाभ एवं परोपकार उद्देश्य से कुआँ या पोखर खोदना, पथ-निर्माण करना, वृक्ष-रोपण करना आदि समझे जाते थे।

"स्वधर्मपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।"
(गीता २।३१)

अर्थात् और अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने के योग्य नहीं है; क्यों कि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्त्तव्य क्षत्रिय के लिए नहीं है।

इस श्लोक की व्याख्या में शंकराचार्य ने कहा है कि चूँकि अर्जुन क्षत्रिय है एवं युद्धकर्म क्षत्रियों का स्वभावगत कर्म है इसीलिए युद्ध अर्जुन के लिए अवश्यकरणीय है। (क्षत्रिय के लिए जो युद्धरूप स्वधर्म है उसे देखकर भी तुझे कम्पित होना उचित नहीं है, अभिप्राय यह कि अपने स्वाभाविक धर्म से विचलित होना—हटना—भी तुझे उचित नहीं है।)

"एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।
(गीता २-३९)

इस श्लोक के बुद्धि शब्द का अर्थ है ज्ञान, जिस ज्ञान के प्रभाव से जीव के जन्म-मरणरूप संसार-दुःख के भोग के हेतु शोक, मोहादि दोषों की निवृत्ति होती है। और योग शब्द का अर्थ है उक्त ज्ञान की प्राप्ति के उपाय स्वरूप ईश्वर में फल-समर्पण के साथ अनुष्ठित कर्म। "(बुद्धिः ज्ञानं साक्षात् शोकमोहादि संसार हेतु दोष-निवृत्ति कारणम्। योगेतु तत् प्राप्त्युपाये निःसङ्गतया द्वन्द्व प्रहाणपूर्वकम् ईश्वराराधनार्थे 'कर्मयोगे' कर्मानुष्ठाने।)" यानि मैंने तुझसे सांख्य अर्थात् परमार्थ वस्तु की पहचान के विषय में यह बुद्धि यानी ज्ञान कह सुनाया। ज्ञान, संसार के हेतु जो शोक, मोह आदि दोष हैं उनकी निवृत्ति का साक्षात कारण है। इसकी प्राप्ति के उपाय रूप योग के विषय में अर्थात् आसक्ति रहित होकर सुख : दुःख आदि द्वन्द्वों के त्यागपूर्वक ईश्वराराधन के लिए कर्म किये जानेवाले कर्मयोग के विषय में सुन।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।
(गीता २-४७)

तेरा कर्म में ही अधिकार है, ज्ञान निष्ठा में नहीं। वहाँ (कर्म मार्ग में) कर्म करते हुए तेरा फल में कभी अधिकार न हो, अर्थात् तुझे किसी भी अवस्था में कर्मफल की इच्छा नहीं होनी चाहिए।

यदि कर्मफल में तेरी तृष्णा होगी तो तू कर्मफल प्राप्ति का कारण होगा। अतः इस प्रकार कर्मफल—प्राप्ति का कारण तू मत बन। ...यदि कर्मफल की इच्छा न करें तो दुःख रूप कर्म करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार कर्म न करने में भी तेरी आसक्ति-प्रीति नहीं होनी चाहिए।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।
(गीता २-५०)

कर्मानुष्ठान के कौशल का नाम कर्मयोग है। यह कौशल होता है—ईश्वरसमर्पित-चित्त से कर्म की सिद्धि या असिद्धि से निर्विकार रहकर कर्मानुष्ठान करना। इसी को कौशल कहते हैं, जिसका अवलम्बन कर कर्म करने से वह फिर संसार बन्धन का कारण नहीं हो पाता है। समत्वबुद्धि सम्पन्न होना ही यह कौशल है।

ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति के सोपान के रूप में कर्मनिष्ठा हमलोगों के पुरुषार्थ-लाभ में सहायक होती है; कर्मयोग स्वतंत्ररूप में परमपुरुषार्थ का साधन नहीं हो पाता है। दूसरे पक्ष में; कर्मयोगरूप उपाय के अवलम्बन से मनुष्य ज्ञाननिष्ठा लाभ का अधिकारी होता है, तब यह ज्ञाननिष्ठा निःश्रेयस प्रापक होती है।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।
(गीता ३-१९)

यानी अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त होता है। अनासक्त भाव से ईश्वर को फल समर्पित कर कर्म करने से चित्त शुद्ध होता है, एवं चित्तशुद्धि होने से मोक्ष प्राप्ति होती है।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।।
(गीता ४-१४)

अहंकार होने से ही देहादि की उत्पत्ति होती है। ईश्वर को अहंकार नहीं है। लीलादेह धारण कर वे जो सारे कर्म करते हैं, उन सारे कर्मों के द्वारा वे बँधते नहीं हैं।

छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोतिष्ठ भारत ।
(गीता ४-४२)

अपने सर्वनाश के कारणरूप संशय को विचारों की सहायता से नष्ट कर सम्यक् दर्शन के उपायरूप कर्म का अनुष्ठान करो और युद्ध करने के लिए उठ कर खड़े होओ।

गीता के छठे अध्याय की व्याख्या करने के प्रारंभ में आचार्य शंकर ने कहा है,—"ध्यान योग (अर्थात् राज योग) सम्यक् दर्शन का (आत्मस्वरूप की उपलब्धि का) अन्तरंग साधन है। और कर्म होता है ध्यानयोग का बहिरंग साधन। अधिकारी गृहस्थ जबतक ध्यानयोग के

अभ्यास में समर्थ नहीं होते हैं तब तक उन्हें अपने वर्णाश्रम विहित कर्त्तव्य-कर्म अवश्य ही करने होंगे।

"न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥
(गीता ६-२)

जो कर्मी कर्म की फल-कामना त्याग करने में असमर्थ हैं वे कभी चित्त को एकाग्र करने में समर्थ नहीं हो पाते। फल-कामना मात्र चित्तविक्षेप का हेतु है, कारण है।

ऊपर गीता के जिन कुछ श्लोकों की आचार्य शंकर कृत व्याख्या का भावानुवाद दिया गया उससे हम समझ पाते हैं कि उन्होंने अनेक लोगों के लिए कर्म को अवश्य करणीय कहा है एवं निष्काम कर्म को जीवन के चरम लक्ष्य में उपनीत होने के लिए एक सोपान कहकर स्वीकार किया है। किन्तु गंतव्य स्थल से इस सोपान की दूरी ही कितनी है? चित्त के सर्वतोभावेन शुद्ध होने पर स्वरूप की उपलब्धि के लिए और किसकी अपेक्षा करनी है? श्रीरामकृष्णदेव ने कहा है, "शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि और शुद्ध आत्मा एक हैं।" संसार में उनकी वाणी के प्रचार के अधिकार-प्राप्त स्वामी विवेकानन्द ने ज्ञानयोग, भक्ति-योग एवं ध्यानयोग की भाँति कर्मयोग को भी अन्य—निरपेक्ष स्वतंत्र साधन-पथ के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इनके द्वारा आचार्य शंकर का माहात्म्य थोड़ा भी खर्व नहीं किया गया है। युग-युग में मनुष्य की विचार-प्रणाली में विवर्तन घटित होता है। और ऐसा होना ही स्वभाविक है।

प्रत्येक पुरुष, और प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वररूप में देखो। इतनी अधिक तपस्या के उपरान्त मैंने इस यथार्थ सत्य को समझा है—ईश्वर प्रत्येक जीव में है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। "जो जीव की सेवा करता है, वह वस्तुतः ईश्वर की सेवा करता है।" यदि तुम अपने भाइयों—प्रकट ईश्वर—की आराधना नहीं कर सकते, तब फिर तुम अव्यक्त ईश्वर की कैसे उपासना कर सकते हो? ईश्वर की पूजा के लिए तुम एक मन्दिर का निर्माण कर सकते हो, और वह अच्छा भी हो सकता है, किन्तु एक उत्तम, एक अत्युच्च मन्दिर पहले से ही स्थित है और वह है—मानव शरीर।

—स्वामी विवेकानन्द

गीता : श्रीरामकृष्ण की दृष्टि में

—स्वामी शुद्धव्रतानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन, मोराबादी, रांची

"गीता पढ़ने से क्या होता है ? दस बार 'गीता-गीता' कहने से जो होता है । 'गीता-गीता' कहते-कहते 'त्यागी' हो जाता है । संसार में कामिनी-कांचन की जिसकी आसक्ति का त्याग हो गया है, जो ईश्वर में सोलह आना भक्ति दे पाता है, वही गीता का मर्म समझता है । गीता पूरी पुस्तक पढ़ने की आवश्यकता नहीं है । 'त्यागी-त्यागी' कह पाने से ही हो गया।"

"डाक्टर—'त्यागी' कहते जाने से ही एक य-संयुक्ताक्षर लगाना होगा ।"

"मणि—वह य-संयुक्ताक्षर नहीं लगाने से भी होगा; नवद्वीप गोस्वामी ने ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) से कहा था । ठाकुर पानीहाटी में महोत्सव देखने गये थे । वहाँ नवद्वीप गोस्वामी को गीता की यह बात कही थी । तब गोस्वामी ने कहा, 'आ धातु में घञ से 'ताग' होता है; इसके बाद ईन् प्रत्यय लगाने से 'तागी' होता है, त्यागी और तागी का एक अर्थ है । (कथामृत ३।२९।३।२६०)

"पूरी गीता नहीं पढ़ने से भी होता हैं । दस बार 'गीता-गीता' कहने से जो होता है वही गीता का सार है । अथात् त्यागी । (कथामृत ४।२१।५।२२२)

"गीता की यही शिक्षा है, 'हे जीव, सब त्याग कर भगवान की प्राप्ति के लिए चेष्टा करो ।' साधु ही हो, संसारी ही हो, मन से सारी आसक्तियों का त्याग करना होगा ।"

"चैतन्यदेव जब दक्षिण में तीर्थ-भ्रमण करते थे—उन्होंने देखा कि एक आदमी गीता पढ़ रहा है । और एक आदमी थोड़ी दूर पर बैठ कर सुन रहा है और रो रहा है—रोते-रोते आँखें बहती जाती हैं ।

चैतन्यदेव ने जिज्ञासा की, 'तुम यह सब समझ पाते हो ?' उसने कहा, 'भगवन्, मैं इन सब श्लोकों को समझ नहीं पाता हूँ ।

उन्होंने जिज्ञासा की, 'तब रोते क्यों हो ?' भक्त ने कहा, 'मैं देखता हूँ अर्जुन का रथ; और उसके आगे भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन बात कर रहे हैं । यही देखकर मैं रो रहा हूँ ।" (कथामृत ३।१।४।१२)

"गीता सभी शास्त्रों का सार है । संन्यासी के पास और कुछ नहीं रहता है, गीता की एक छोटी प्रति रहती है ।"

गीता की असली शिक्षा है त्याग । क्या त्याग, भोग-वासना का त्याग । किसके लिए यह त्याग,—परमार्थ-लाभ के लिए, अमृतत्व-लाभ के लिए । त्याग की बात कहते ही हम लोग चौंक उठते हैं । हमलोगों को अच्छी तरह सोचकर देखना होगा कि हम किस वस्तु का लाभ करना चाहते हैं, और वह वस्तु कितनी मूल्यवान है । जो वस्तु जितनी मूल्यवान होती है उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होता है । हम अमृतत्व-लाभ करना चाहते हैं, सुख-दुःख, अच्छा-बुरा सारे बन्धनों से मुक्ति चाहते हैं किन्तु, उसे प्राप्त करने के लिए उसी परिमाण का मूल्य देने को तैयार नहीं होते । अमूल्य सम्पत्ति चाहते हैं, अतः मूल्य नहीं देंगे, यह तो नहीं होगा । हम जो अमूल्य सम्पदा पाना चाहते हैं—परमार्थ सम्पदा चाहते हैं उसकी तुलना में हमारे त्याग का मूल्य कितना है ?

सम्पूर्ण भाव से निःशेष होकर अपने जीवन को नहीं दे पाने से नहीं होगा । इस क्षुद्र जीवन का दान भी

खूब ही अकिंचित्कर है। 'त्याग' का अर्थ निःस्व होना नहीं है, अक्षय धन से धनी होने का पथ ही त्याग है। त्याग का अर्थ संसार के भय से भागना नहीं है बल्कि समाज में विजयी होने का एकमात्र उपाय ही आत्मत्याग है। किन्तु वह त्याग फिर एकबारगी स्वार्थ-बोध मात्र से ही विहीन होना चाहिए। श्रीरामकृष्ण ने कहा है—"विषय के ऊपर, कामिनी-कांचन के ऊपर प्रीति रहने से नहीं होता है। अगर विषय के ऊपर आसक्ति रहती है तब संन्यास ग्रहण करने से भी नहीं होता है।" संन्यास का अर्थ है सम्यक् रूप से नाश अर्थात् वासना का लेशमात्र नहीं रहेगा। इसीलिए श्री श्रीमाँ सारदा देवी कभी-कभी भक्तों को आशीर्वाद देती हुई कहती थीं—"निर्वासना तुम्हें उपलब्ध हो।"

उपनिषद् कहती है, "त्यागनैके अमृतत्वमानशुः:" त्याग के द्वारा कोई-कोई अमृतत्व-लाभ कर पाते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने इससे संतुष्ट नहीं होकर कहा है—"त्यागनैके अमृतत्वमानशुः"—'एकमात्र त्याग के द्वारा ही अमृतत्व को प्राप्त किया जा सकता है। अन्य उपायों से नहीं।' इससे मन में ऐसा होने लगता है कि ऐसा होने से तो एकमात्र संन्यासियों को ही अमृतत्व की प्राप्ति का अधिकार है। श्री श्रीरामकृष्ण ने कहा है "यह क्यों ? देखना होगा कि असल त्याग कौन-सा है। असल त्याग हुआ मन का त्याग, अन्तर का त्याग। यह यदि कोई कर सके तभी प्रकृत त्याग हुआ।" यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ऐसा होने पर संन्यासियों का भी तो मन का त्याग होने से ही होगा, ऐसा होने से उन लोगों का फिर बाहरी त्याग क्यों आवश्यक है ? यहाँ यह भूलने से काम नहीं चलेगा कि संन्यासी का जीवन होता है आदर्श स्वरूप; इसीसे उसका अन्तर-त्याग और बाह्य-त्याग दोनों प्रयोजनीय है। तब गृहस्थ के लिए यह विधान ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) क्यों नहीं देते हैं ? कारण यह है कि वह जो आश्रम है (यथा, गृहस्थाश्रम) उस आश्रम में उसका यही आदर्श है। यही एकमात्र अनुसरण योग्य पथ है। यह बात भूलकर यदि हम सभी त्याग के आदर्श को बिना विचारे ग्रहण करने की चेष्टा करें तो उसका क्या परिणाम होगा, यह बौद्ध धर्म ने दिखा दिया है।

श्री श्रीरामकृष्ण ने जो 'विषय के ऊपर आसक्ति' की बात कही है—आसक्ति का अर्थ है 'मैं—मेरा' का भाव। भगवान पर आसक्ति छोड़कर अन्य जो कोई भी आसक्ति है वह ईश्वर के ऊपर पूर्ण निर्भरता के मार्ग में बाधक है, उन्हें छोड़कर अन्य जो कोई भी कामना है वह ईश्वर के पथ में बाधक है। एक कामना करने से उससे सैकड़ों कामनाओं का जन्म हो जाता है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(गीता २।६२।६३)

विषय-चिन्ता करते-करते मनुष्य की आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति होने से कामना अर्थात् उसी विषय के भोग की तृष्णा जन्म लेती है। इस कामना में विघ्न या प्रतिरोध होने पर (प्रतिरोधक के प्रति) क्रोध का उदय होता है। क्रोध होने से मोह अर्थात् विपर्यय बुद्धि आती है, मोह होने से (शास्त्र एवं आचार्यों के तत्वोपदेश के सम्बन्ध में) स्मृति का विलोप हो जाता है। स्मृति-भ्रंश होने से (सत्-असत् विचार) बुद्धि विनष्ट हो जाती है एवं बुद्धि-नाश होने से मनुष्य का पुरुषार्थ रह नहीं जाता है। इसीलिए गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है, मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः। अर्थात् हे अर्जुन, तुम मेरे प्रति आसक्तिचित्त हो और मेरा आश्रय ग्रहण करो। आसक्तचित्त होने का अर्थ है प्रेम। बात यह है कि विषयासक्ति छोड़कर ईश्वर को प्रेम करना होगा। आश्रय ग्रहण करने का अर्थ है शरणागत होना। भगवान को प्रेम करके ही उनका आश्रय ग्रहण करना होगा। त्याग ही सब कुछ है, हमलोगों के धर्म का मूल मंत्र यही है। त्याग हमलोगों को संजीवित रखता है। विषय-सम्पदा परमार्थ नहीं दे पाती है। इस संसार में सुख के साथ दुःख जुड़ा रहता है प्रकाश और अंधकार की तरह एक के पीछे एक लगा रहता है। विषयों में शाश्वत आनन्द नहीं है। इसी से तो श्रीरामकृष्ण आकर फिर वही प्राचीन शिक्षा दे गये—"सच्ची शान्ति त्याग में है।" उपनिषदों का सार है गीता और गीता का सार श्रीरामकृष्ण कथामृत (हिन्दी में श्रीरामकृष्ण वचनामृत) में पाया जाता है। ●

पश्चिमी सभ्यता पर भारत का प्रभाव

—स्वामी अभेदानन्द

आर्य सभ्यता का सूर्योदय सर्वप्रथम भारत के क्षितिज पर हुआ; यूनान, रोम, अरब और ईरान के आकाश पर नहीं। भारत को तत्वविज्ञान, दर्शन तर्कशास्त्र, ज्योतिष विज्ञान, कला, संगीत, औषधिविज्ञान तथा सच्चे नीति-परक धर्म की जन्मभूमि कहा जा सकता है। आधुनिक यूरोप और अमेरिका के विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के छात्रों को भले ही पढ़ाया जाय कि यूनानी और रोमन यूरोपीय सभ्यता के जनक थे और दर्शन एवं विज्ञान सर्वप्रथम प्राचीन यूनान में पैदा हुए, तथापि यूरोप के पूर्वीय विद्वानों तथा इतिहास के निष्पक्ष अध्येताओं द्वारा सिद्ध हो चुका है कि दर्शन, विज्ञान तथा बौद्धिक संस्कृति के साथ ही अनेक नीतिशास्त्र एवं आध्यात्मिक आदर्शों के लिए प्राचीन यूनान भारत के प्रति अत्यधिक ऋणी है।

यदि हम सर्वश्री प्लीनी, स्ट्राइबो, मेगास्थनिज, हेरोडेटस, पोरफाइरी और विभिन्न देशों के प्राचीन लेखकों द्वारा छोड़े हुए ऐतिहासिक विवरण तथा लेख पढ़ें तो हम देखेंगे कि इनके द्वारा भारत की सभ्यता अतीव आदृत है। वस्तुतः १५०० से लेकर ५०० ईसा पूर्व के मध्य धर्म, तत्वविज्ञान, दर्शन, विज्ञान, कला, संगीत और औषधिविज्ञान में हिन्दू इतने आगे थे कि दूसरा कोई राष्ट्र प्रतिद्वन्द्वी के रूप में खड़ा नहीं हो सकता और न ज्ञान की शाखा में प्रतियोगिता कर सकता है। इसके विपरीत अनेक राष्ट्रों ने, जो व्यापार या अन्य किसी तरह हिन्दुओं के सम्पर्क में आये, हिन्दू विचारों को स्वीकार किया और हिन्दू चिंतन शैली पर अपने को ढाला। उदाहरण के लिए ज्यामिति विज्ञान भारत में हिन्दुओं द्वारा यज्ञवेदी की रचना के वैदिक नियमों द्वारा आविष्कृत हुआ। इन वैदिक नियमों से धीरे-धीरे ज्यामिति विज्ञान का विकास हुआ। बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा स्वीकृत हुआ कि संसार ने इस विज्ञान की पहली शिक्षा भारत से प्राप्त की, यूनान से नहीं।

यूनानी परम्परा है कि पाइथागोरस भारत गये थे। संभवतः उन्होंने ज्यामिति, गणित, आत्मा के पूर्व अस्तित्व और आवागमन के सिद्धान्त, संन्यासव्रत, मांसाहार निषेध, शाकाहार, अंकों के मूल्य की धारणा और प्राचीन यूनान एवं मिश्र में अज्ञात पंचम तत्व के प्रारंभिक पाठ हिन्दुओं से सीखे थे। मिश्रियों और यूनानियों ने चार तत्वों को स्वीकार किया है किन्तु उन दिनों आकाशतत्व अज्ञात था। पाइथागोरस के सदियों पहले हिन्दुओं में ये सब पढ़ाये गये थे। प्रो० इ० डब्लू हॉपकिन्स ने अपने ग्रंथ 'रेलिजन्स आफ इन्डिया' में स्वीकार किया है कि ईसा पूर्व छठी सदी के पहले पाइथागोरस के सभी धार्मिक-दार्शनिक विचार भारत में प्रचलित थे।

यूनानी अंक विज्ञान में हिन्दुओं के प्रतिद्वन्द्वी नहीं हो सकते। निस्सन्देह संसार ने दशमलव पद्धति को भारत से ग्रहण किया है। सर्वप्रथम अरबों ने इसे भारत से सीखा और तब इसे यूरोप में प्रस्तुत किया। यह यूनानियों तथा रोमनों को अज्ञात था। दशमलव पद्धति के बिना अंकगणित व्यावहारिक विज्ञान नहीं हो सकता। हिन्दुओं ने पश्चिम जगत् को बीजगणित अरबों के द्वारा प्रदान किया, जिन्होंने आठवीं सदी में इसे अनूदित किया। और लियानार्डो डा० पिसा ने सर्वप्रथम १३ वीं सदी में यूरोप में उपस्थित किया। हिन्दू ही तलीय एवं गोलीय त्रिकोणमिति के प्रथम शिक्षक थे। भारत के महान् गणितज्ञ भास्कराचार्य ने, जो १११४ से ११५० ई० सन् तक जीवित थे, इन विषयों पर विस्तृत प्रबन्ध लिखे और उनकी रचनाओं में उल्लेखनीय समस्याओं के समाधान हैं जो यूरोप में

१७ वीं तथा १८ वीं सदी तक प्राप्त नहीं किये गये थे। ज्योतिष के क्षेत्र में हिन्दुओं ने प्रमुख सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया। चीनियों तथा अरबों ने इन्हें भारत से ग्रहण किये। हिन्दुओं ने वैदिक मंत्रों के पाठ से संगीत विज्ञान को विकसित किया। सामवेद विशेष रूप से संगीत के लिए प्रस्तुत हुआ था। सात स्वरों का माप और तीन यति या विराम यूनानियों से सदियों पूर्व भारत में ज्ञात थे। वागनर Leading Motine के प्रधान विचार के लिए हिन्दू संगीत विज्ञान के प्रति ऋणी है। इसीलिए पश्चमी लोग वागनर के संगीत को समझने में कठिनाई महसूस करते हैं। लैटिन अनुवादों के द्वारा वह पूर्वी संगीत से परिचित हुआ था।

पश्चिमी संसार ने औषधिविज्ञान की पहली शिक्षा भारत से पायी थी। मैंने पहले के भाषण में प्रमाण दिया था कि अलेक्जेन्डर के युद्ध शिविर में हिन्दू चिकित्सक थे और वह यूनानी चिकित्सकों से अधिक प्राथमिकता इन्हें देता था। मेगास्थनिज, नर चस और एरियन ने हिन्दू चिकित्सकों की आश्चर्यजनक चिकित्सीय शक्ति की प्रशंसा की है। किंग्स कॉलेज, लन्दन के डॉ० रॉयले ने सन् १८९० के अपने प्रसिद्ध लेख, हिन्दू मेडिसिन में दिखाया है कि औषधि विज्ञान का जनक—हिप्पो क्रेटस ने, जो ईसा पूर्व चौथी सदी में था, भारत से मेटेरिया मेडिका को ग्रहण किया था। डॉ० रॉयले कहते है कि हम औषधि विज्ञान की प्रथम पद्धति के लिए हिन्दुओं के प्रति आभारी हैं।

हेरोडोटस, जो ईसा पूर्व ५वीं सदी में विद्यमान था, कहते है कि उस युग में हिन्दू महानतम राष्ट्र थे। वे यह भी लिखते हैं कि हिन्दुओं का व्यापार मिश्र के साथ था। दूसरे स्रोतों से जानकारी मिलती है कि भारत का व्यापार वेवीलोन और सीरिया के साथ चल रहा था। दूसरे प्रामाणिक स्रोत से हमें ज्ञात होता है कि एक हिन्दू दार्शनिक ने एथेन्स में सुकरात से भेंट की थी। प्रो० मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक 'साइकलोजिकल रेलिजन' में इस तथ्य की पुष्टि की है। इस हिन्दू दार्शनिक ने उस महान् यूनानी दार्शनिक से बातचीत की थी। उसने सुकरात से दर्शन के सम्बन्ध में पूछा था। सुकरात ने उत्तर दिया कि उसका दर्शन मानव जीवन के सम्बन्ध में जाँच करता है। इस पर हिन्दू दार्शनिक ने मुस्कराकर कहा कि सर्वप्रथम दिव्यता को जाने बिना आप मानवीयता को कैसे जान सकते हैं? हिन्दू को छोड़ कर कर दूसरे द्वारा ऐसा उत्तर नहीं दिया जा सकता क्योंकि हिन्दू समस्त सत्यज्ञान की उत्पत्ति दिव्य मानते हैं।

राल्फ वाल्डो इमर्सन कहता है कि प्लेटो यूरोप और एशिया का समन्वय था। और निर्णीत रूप से पूर्वीय तत्व उसके दर्शन मे प्रवाहित था जो इसे सूर्योदय का रंग प्रदान कर रहा था। वस्तुतः वैराग्यवाद वासंन्यास के शिक्षण में प्लेटो यूनानी से अधिक हिन्दू था क्योंकि सभी देशों में यूनानी बहुत ही कम वैराग्यवादी थे। मेरे मित्र प्रो० एडवर्ड हवार्ड ग्रिग्स ने न्यूयार्क की वेदान्त सोसायटी के समक्ष दिये गये भाषण में स्वीकार किया है कि सत्यज्ञान की प्राप्ति के एक मात्र साधन के रूप में विषयों पर विजय में प्लेटो का विश्वास मुख्य रूप से पूर्वीय एवं अयूनानी था। यदि हम उपनिषदों एवं वैदिक वाङ्गमय के विचारों से तुलना करते हुए प्लेटो का अध्ययन सावधानी से करें तो हम पाते हैं कि गुफा में शृंखलाबद्ध उसका सुज्ञात मानवरूप वेदान्त के माया सिद्धान्त का रूपकात्मक प्रस्तुतीकरण मात्र है। यह दृश्य जगत् एक स्वप्न के समान है जब कि रथ का दूसरा चित्र वैदिक रचनाकारों का प्रिय विषय रहा है जो प्लेटो से सदियों पूर्व हुए थे। कठोपनिषद् में हम पढ़ते हैं कि इस शरीर की तुलना रथ से की जा सकी है; बुद्धि की सारथी से, मस्तिष्क की लगाम से, इन्द्रियों की घोड़ों से और उनका मार्ग इन्द्रिय विषय हैं। अंग्रेजों में प्रथम प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान सर विलियम जोन्स ने इस तथ्य को पुष्ट किया है कि वेदान्त को पढ़ाना असंभव है या इसके चित्रण में प्रस्तुत अनेक सुन्दर रचनाओं को—बिना विश्वास किये हुए कि पाइथागोरस एवं प्लेटो ने भारतीय ऋषियों के ज्ञान प्रवाह से अपने अपने सिद्धान्तों को निकाला है।

प्रो० मैक्समूलर और अन्य पूर्वीय विद्वान् मानते हैं कि अरस्तू का तर्क संभवतः हिन्दू तर्क शास्त्र का यूनानी

प्रस्तुतीकरण था। प्रो० हापकिन्स 'रेलिजन आफ इंडिया' में लिखते हैं कि थेल्स और परमेनाइडस दोनों भारत के ऋषियों से प्रभावित थे जबकि इलियाटिक स्कूल उपनिषदों का प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है। वह तो सुझाव देता है कि एनाक्सीमेन्डर और हेराक्लीटस के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त सर्वप्रथम यूनान में ज्ञात नहीं थे। हमलोगों को मस्तिष्क में अंकित रखना चाहिए कि सिकन्दर के भारत आक्रमण के बाद भारत तथा यूनान का सम्बन्ध और निकटतम हो गया था। बहुत से हिन्दू दार्शनिक एथेन्स तथा यूनान के अन्य स्थानों में रहते थे। वे जिमनोसोफिस्ट अथवा भारत के हिन्दू दार्शनिक के नाम से जाने जाते थे। उस समय सिकन्दरिया भारत तथा यूनान के मध्य व्यापार तथा वाणिज्य का केन्द्र बन गया था और हिन्दुओं तथा पश्चिमी राष्ट्रों के मध्य विचारों के आदान-प्रदान का बहुत बड़ा अवसर मिल गया था। पोरफाइरी भारत के बुद्धिमान पुरुषों की बुद्धिमत्ता, नैतिकता तथा ब्रह्माण्ड के रहस्यों के ज्ञान के प्रति प्रशंसा का भाव रखता था। नवप्लेटोवाद के सम्बन्ध में प्रो० गार्वे ने कहा है कि प्लोटिनस हिन्दू दार्शनिकों के साथ पूरी तरह सहमत था और उसका शिष्य पोरफाइरी ब्रह्म से मिलन के योग सिद्धान्त से सुपरिचित था। हिब्रू, पारसी तथा मिश्री के समान पश्चिमी देशों के लिए यह अनजान था। प्लेटो तथा उसके अनुयायियों द्वारा नवप्लेटोवादी, स्टोइक्स और सिकन्दरिया के फिलो भी हिन्दू दर्शन से बहुत प्रभावित थे। तर्कशास्त्र जिसे, प्लेटो, नवप्लेटोवादी, फिलो और बाद में फार्थ गास्पेन ने अपने तत्व विज्ञान का निकष बनाया था, सर्वप्रथम भारत में उदित हुआ था।

—डॉ० शत्रुघ्न

□ □ □

जीवन कथा

श्री सारदा देवी

—स्वामी वेदान्तानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

पंचदश अध्याय
(स्वजनों के संग)

वृन्दावन से लौटकर सारदादेवी ने प्रायः एक वर्ष का समय कामारपुकुर में व्यतीत किया। इसके बाद अपने जीवन के शेष काल का प्रायः आधा समय कलकत्ते में और आधा जयरामबाटी में उन्होंने बिताया। कामारपुकुर में नहीं रहकर वे जयरामबाटी में जाकर क्यों रहती थीं? इसके दो कारण थे। पहला, कामारपुकुर में उन्हें प्रायः अकेली रहना होता; उन्हें देखने भालने वाला, उनके कार्य-कर्मों में सहायता करने वाला कोई था नहीं। दूसरी ओर जयरामबाटी में उनके भ्रातागण हर प्रकार से उनकी सहायता के लिए विशेषरूप से इच्छुक थे। इसी से बीच-बीच में उन्हें जयरामबाटी जाना होता था। नहीं तो कामारपुकुर गाँव के ऊपर उनका यथेष्ट आकर्षण था। श्रीरामकृष्ण ने एक समय उनसे कहा था, "बल्कि दूसरे का भोजन अच्छा है, किन्तु दूसरे का घर अच्छा नहीं। तुम्हारे भक्तगण भले ही अपने घर में जहाँ भी तुम्हें आदर-यत्न के साथ क्यों नहीं रखें, कामारपुकुर के अपने घर को कभी नष्ट नहीं करना।" श्रीरामकृष्णदेव के इस आदेश का उन्होंने आजीवन पालन किया। कामारपुकुर के श्रीरामकृष्णदेव के घरों को वे बराबर रुपये-पैसे खर्च कर मरम्मत कर रखती थीं,—यद्यपि कि उस घर में उनके रहने की आवश्यकता नहीं थी।

सारदादेवी को संसार श्रीरामकृष्णदेव की सहधर्मिणी के कारण उसी प्रकार शक्तिशाली लोकगुरु के रूप में जानता है। इस सम्बन्ध में अधिक बातें बाद में होंगी। आपाततः उनके आत्मीय स्वजनों के साथ उनके सम्पर्क का, उनके सांसारिक जीवन के विषय में थोड़ा विचार किया जाता है। जिस विचित्र और विरुद्ध पारिवारिक अवस्था के बीच उन्होंने समय काटा है, उस बात पर विचार करने से उनका महत्व हमलोगों के मन को अभिभूत कर देता है। आत्मीय स्वजनों के साथ उनका सम्पर्क और व्यवहार उनके आध्यात्मिक जीवन को लोकचक्षु के सम्मुख एक अपूर्व सुषमा से मंडित कर देता है।

सारदादेवी माता-पिता की ज्येष्ठ सन्तान थीं। गरीबों की दुनिया में बड़ी बहन को छोटे भाई-बहनों की अनेक झंझटों को समाप्त करना होता है। प्रसन्नकुमार, वरदा प्रसाद, काली कुमार और अभयचरण इन चारों छोटे भाइयों को सारदादेवी ने गोद और पीठ पर लेकर मनुष्य बनाया था। उन सब के ऊपर उनका एक विशेष अनुराग था। भाइयों में सभी थे साधारण संसारी मनुष्य—दैव विडम्बना से सारदादेवी के आध्यात्मिक या नैतिक किसी गुण का विकास इन भाइयों में नहीं देखा जाता। बल्कि, उनमें कोई-कोई थे घोर संसारी। छोटे भाई को छोड़कर अन्य किसी की भी बुद्धि प्रखर नहीं थी, लिखना-पढ़ना भी उनलोगों ने कुछ विशेष सीखा नहीं। एकमात्र छोटे भाई अभयचरण ने कलकत्ते के स्कूल से डाक्टरी पास की थी।

रामचन्द्र मुखोपाध्याय की मृत्यु के बाद उनकी दुनिया में काफी अभाव उत्पन्न हो गया था। श्यामासुन्दरी को लोगों के घर से धान लाकर कूटकर देने से उसकी आमदनी द्वारा अपना परिवार चलाना पड़ता था। दक्षिणेश्वर में रहने के समय सारदादेवी जब जयरामबाटी जातीं तब भी अपनी माँ को धान कूटने तथा अन्य हर प्रकार के सांसारिक कार्य में वे सहायता करतीं। बाद में जब कलकत्ता से वहाँ जातीं तब भाइयों के परिवार के अधिकांश कार्य अपने हाथों वे कर देतीं। अपनी बूढ़ी माँ को खटने नहीं देती थीं। और भाभियाँ सब भी छोटी-छोटी थीं। उनके छोटे बच्चों की देखभाल, धान उबालना और धान कूटना, ये सब काम वे स्वयं करतीं।

बड़े होने पर भी भ्रातृगण सारदादेवी के ऊपर अधिक निर्भर रहते थे। तब दीदी (बड़ी बहन) के ऊपर उन लोगों के प्रेम में कमती-बढ़ती निर्भर करती थी दीदी से रुपये-पैसे पाने के परिमाण के ऊपर। बाद में भक्तगण जब उनकी सेवा के लिए उन्हें रुपये-पैसे देते तब ये भाई सब हर समय नजर रखते कि किसने कितने रुपये दिये हैं। इसके लिए उन भाइयों में हिंसा, द्वेष और विरोध का अन्त नहीं था। उनलोगों के झगड़े-झमेले उन्हें समय-समय पर अस्त-व्यस्त कर देते। सन् १९०७ ई० में श्यामासुन्दरी की मृत्यु के पश्चात उन्होंने जब देखा कि इन भाइयों को किसी भी तरह से एक परिवार में नहीं रखा जा सकता, तब उन्होंने उन लोगों की विषय-वस्तुओं को बाँट देने की व्यवस्था की। इसके बाद, जब तक भक्तों ने जयरामबाटी में उनके रहने के लिए मकान नहीं तैयार कर दिया था, तब तक वे भाइयों के परिवार में, विशेषकर प्रसन्नकुमार के घर में रहतीं।

भाइयों को अलग कर देने के बाद भी कल्याण नहीं था, उन लोगों के रुपये-पैसों की माँग से उन्हें समानरूप से दग्ध होना पड़ता था। उनके अधिकार से विरक्त होकर एक दिन उन्होंने कहा था, "ये सब दिनरात केवल रुपये चाहते हैं। भूल से भी क्या कभी भी ये सब ज्ञान-भक्ति नहीं चाहते ?"

सारदादेवी एक दिन सबेरे अपने घर के बारामदे में बैठी हैं। इसी समय वरदाप्रसाद और कालीचरण के बीच किसी कारणवश वाद-विवाद होते-होते मारपीट की नौबत उपस्थित हो गयी। वे स्थिर नहीं रह पाकर दोनों भाइयों के निकट गयीं। कभी एक भाई से कहती हैं, 'तुम्हारा दोष है, कभी फिर दूसरे को पकड़कर खींचती हैं। काफी उन्मत्त हो गयी हैं। थोड़ी देर बाद कुछ लोगों ने आकर भाइयों को छुड़ा दिया—वे सब

बक-बक करते-करते अपने-अपने घरों में घुस गये। सारदादेवी भी अपने घर में आकर बैठ गयीं—बहुत गुस्सा हो गयी हैं। किन्तु बैठते ही हँसते-हँसते कहने लगीं, "महामाया की कैसी माया है! अनन्त पृथ्वी पड़ी हुई है, यह भी (जिस वस्तु को 'मेरी मेरी' कहते हैं) पड़ी रहेगी—जीव इतनी सी बात भी नहीं समझ पाता है।" यह कहकर अस्थिर भाव से हँसने लगीं—वह हँसी और रुकती नहीं थी।

भाइयों के घर परिवार में रहकर वे इसी प्रकार दग्ध होती रहती थीं। किन्तु यही सब नहीं, और भी अनेक सारी झंझटें उन्हें मिटानी होतीं। उनके छोटे भाई अभयचरण डाक्टरी पास करने के बाद ही मर गये। अभयचरण की पत्नी सुरबाला उस समय प्रथम गर्भवती थी। अभयचरण ने अपने देह-त्याग के पूर्व दीदी से सुरबाला और उसकी गर्भस्थ सन्तान का भार लेने का अनुरोध किया था। अपने पति तथा और दो आत्मीयों की मृत्यु का दारुण शोक नहीं सह पाने के कारण सुरबाला का दिमाग खराब हो गया। इस अवस्था में एक पुत्री को जन्म देने के बाद सुरबाला का पागलपन और बढ़ गया। नवजात शिशु को कैसे मनुष्य बनाया जायगा, यह घर के सभी सदस्यों के लिए एक महा-समस्या बन कर उपस्थित हो गया। शिशु की देख-रेख के लिए एक महिला को नियुक्त कर सारदादेवी कलकत्ता चली आयीं। बालिका का नाम रखा गया राधारानी—पुकारने का नाम पड़ा राधू या राधि।

कलकत्ता आकर वे निश्चिन्त नहीं रह पायीं। मानस चक्षु से उन्होंने देखा, पगली माँ के हाथों राधू की अशेष दुर्गति हो रही है। थोड़े ही दिनों में जयरामबाटी लौट कर उन्होंने राधू के लालन-पालन का भार अपने हाथों में ले लिया। तब से अपने शरीर-त्याग के कुछ दिन पूर्व तक इसी राधू की चिन्ता उनके मन के एक बड़े हिस्से में जुड़ी रही। राधू की सेवा, राधू का यत्न, राधू के भविष्य का विचार आदि से उन्हें प्रायः व्यस्त रहते देखा जाता था। किसी प्रकार वे राधू को अपने निकट से हटा नहीं पातीं थीं। राधू को छोड़कर उन्हें भोजन में रुचि नहीं होती, राधू को साथ नहीं सोने पर उन्हें नींद नहीं आती। सुरबाला और राधारानी के द्वारा सारदादेवी को अमानुषिक यातनाएँ भी सहनी पड़ी थीं। इस प्रकार की यातनाएँ सहकर भी प्रेम करते रहना संसार में कभी किसी को देखा नहीं जाता।

राधू को प्रेम करने से उनके ऊपर सुरबाला काफी नाराज थी। पगली के मन में सदा यह भावना रहती कि ये जान बूझकर उसकी बेटी का सर्वनाश कर रही हैं। रुग्ण होने की अवस्था में राधू को दवा खिलाने पर पगली सोचती, वे जान बूझकर उसे विष खिलाकर मार डालने का उपाय कर रही हैं। यह सब सोचकर वह दिनरात सारदा देवी को भद्दी-भद्दी बातें कहती। एक दिन वह चूल्हे से एक जलती हुई मोटी लकड़ी लेकर सारदादेवी को मारने छूटी थी। अन्य लोगों के द्वारा आकर पगली को पकड़कर हटा नहीं देने से उस दिन सुरबाला के हाथों उनकी क्या दुर्दशा होती, सो कौन जाने!

राधू भी थी आधा-पगली—चिर रुग्ण, स्वच्छंद, चिड़चिड़ी और दुलार से मनमौजी बनी हुई। उसकी बुद्धि और विवेचना की शक्ति बहुत कम थी। अन्तिम उम्र तक उसके मन की सभी वृत्तियाँ भली भाँति पनप नहीं पायी थीं। सारदादेवी का अपरिसीम प्रेम उसे थोड़ा भी सुधार नहीं पाया, सारी माँगों की एक साथ पूर्ति नहीं कर पाने पर, वह क्रोध से आग हो जाती, अवाच्य भाषा में गालागाली करने लगती तथा हाथ के समीप जो पाती उसे ही लेकर मारने लगती। वय बढ़ने पर भी उसका स्वभाव विशेष बदला नहीं।

सारदादेवी ने उसका विवाह कर दिया। किन्तु किसी तरह भी वह ससुराल नहीं जाती। इसीलिए सारदादेवी को उसके पति को भी आश्रय देना पड़ा। प्रथम गर्भधारण के बाद उसे उन्माद हो गया। उसका शरीर एकाएक टूट गया। सन्तान-प्रसव के उपरान्त उसमें चलने-फिरने की विशेष शक्ति नहीं रही। इस अवस्था में उसके अभाव का, उसकी माँग का कोई अन्त नहीं था। सारदादेवी हास्यपूर्ण मुख से सब सहन करतीं—

उसके सभी अभावों की पूर्ति करतीं। किन्तु वे तो किसी के आगे अपने लिए हाथ फैला नहीं पातीं—श्रीरामकृष्ण ने जो उन्हें इसके लिए विषेध किया था। राधू के उत्पात से व्यथित हो एक दिन उन्होंने बड़े दुःख से कहा था, "हाँ री, मैं उससे (एक भक्त से, जिसने काफी रुपये दिये थे तथा और अधिक की आवश्यकता होने पर सूचित करने को कहा था) क्यों कर रुपये चाहूँगी? ठाकुर, तुम्हारे अन्तिम आदेश की क्या रक्षा नहीं कर पाऊँगी? देखो राधि, तुम्हारे लिए मैं सब खो बैठी हूँ। ठाकुर ने कहा था, "देखो, किसी के सामने एक पैसा के लिए भी हाथ नहीं फैलाना…'।"

उनके कलकत्ता आने पर सुरबाला और राधारानी उनके साथ ही आतीं। इनके अतिरिक्त उनकी दो और भतीजियाँ सब समय उसके साथ ही लगी रहतीं। इनमें एक का विवाहित जीवन सुखी नहीं था, और एक के पति की अवस्था अच्छी नहीं थी। और अपने मायके जाने पर तो भाईगण थे ही। उन सब की एकमात्र चेष्टा थी कि दीदी से कौन कितनी सुख-सुविधा प्राप्त कर पाता है। इस प्रकार के सभी आत्मीय स्वजनों के बीच रह कर एवम् उनके लिए अनेक तरह की झंझटें सहकर भी वे किस प्रकार हर समय स्थिर, शान्त रहतीं, इस बात का विचार करने पर अवाक् हो जाना पड़ता है। बाहर से उन्हें देखने पर मन में होता कि वे एक घोर संसारी महिला हैं—अपना बाल-बच्चा नहीं होने से क्या होता है, दूसरों के बच्चे की माया में बँधी पड़ी हैं। उनके कोई-कोई प्रिय भक्त अनेक बार उनके आचरण के बीच कोई सामंजस्य नही ढूँढ़ पाकर जिज्ञासा करते, 'आपको क्यों इतनी आसक्ति है? रात-दिन 'राधि-राधि' करती हैं, घोर संसारी की तरह! अन्त में आपकी राजा भरत की दशा होगी। राजा भरत मरने के समय अपने प्रिय हिरण की बात सोचने के कारण अपने दूसरे जन्म में हिरण हुए थे।" "बच्चा, मैं नारी हूँ, बाल बच्चों को प्रेम करना ही हमलोगों का स्वभाव है"—यह कहकर अनेक बार वे बातों को हँसकर उड़ा देतीं। लेकिन एक दिन उन्होंने एक व्यक्ति से कहा था, "तुम इस प्रकार कहाँ पाओगे? मेरी तरह एक आदमी निकाल कर देखो? तुम क्या जानो, जो परमार्थ का खूब ध्यान करते हैं, उनका मन जिसे ग्रहण करता है, उसे काफी जकड़ कर पकड़ता है। इसीसे आसक्ति की तरह मन को प्रतीत होता है। बिजली जब चमकती है तब शीशे से ही टकराती है, खड़खड़ी (खिड़की में लगी लकड़ी की झिझरीदार किवार) से नहीं टकराती।"

बात होती है यही—किसी प्रकार की कामना-वासना रहने से मनुष्य को मुक्ति नहीं मिलती। जिन लोगों ने इस जीवन में ईश्वर-लाभ किया है, उनका, सारी वासनाओं के क्षय हो जाने के कारण अधिक दिनों तक मनुष्य-शरीर में बचा रहना सम्भव नहीं होता। पूर्व जन्म के सत् कर्मों का फल जितने दिनों तक फलता रहता है उतने दिनों तक शरीर रहता है। तब, अपने लिए सुख की, भोग की किसी वासना के नहीं रहने पर भी अनेक बार उन लोगों में से कोई-कोई संसार के कल्याण के लिए मानव-शरीर में मनुष्यों के बीच रहना चाहते हैं। वे स्वयं समस्त दुःखों के हाथ से मुक्त रहते हैं, वे चाहते हैं कि दूसरे भी दुःखों के हाथ से मुक्ति पा लें। किन्तु मुक्ति के बाद मनुष्य शरीर में रहने पर किसी एक तरह की कामना-वासना का आश्रय लेकर रहना पड़ता है। मन जिससे हर घड़ी भगवान के ध्यान में डूबा नहीं रहे, इसलिए साधारण किसी एक चिन्ता, किसी कार्य-कर्म का आश्रय लेकर रहने की आवश्यकता होती है।

यह बात सुनकर अनेक लोग कह उठेंगे, यह सब अजूबा कहानी है। आत्मीय स्वजनों के साथ सारदादेवी के आचरण की इस प्रकार की व्याख्या अनेक लोगों के मन को ग्राह्य नहीं होगी। वे कहेंगे,—अपना बाल-बच्चा नहीं होने से क्या होता है, संसार से आसक्ति कहाँ जायगी? श्रीरामकृष्ण ने भी कहा नहीं है,—महामाया की ऐसी माया है कि बाल-विधवा को बिल्ली पोसकर संसार करने दिया। सारदादेवी को भी यही हुआ था और क्या—आसक्ति नहीं छोड़ पायीं इसीलिए दूसरे की बेटी का लालन-पालन कर, आत्मीय स्वजनों को लेकर इतनी ज्वाला-यंत्रणा सही थीं।

बात बहुत तुच्छ नहीं है, तब उनके जीवन के और सारे आचरण, उनके चरित्र का प्रभाव—इन सबके साथ ही तो बात मिलाकर देखनी होगी ? जिन लोगों की अपने संसार पर खूब आसक्ति है उनके संसर्ग में जो आयेंगे उनलोगों की आसक्ति के और भी बढ़ने की सोलहों आना संभावना है। वे दूसरों की आसक्ति मिटायेंगे कैसे ? एक अन्धा क्या दूसरे अन्धा को राह दिखा सकता है ? किन्तु सारदादेवी के जीवन में हम देखते हैं कि उनके संसर्ग में आकर हजार-हजार लोगों की विषयों के ऊपर से आसक्ति मिट गयी है; उनके प्रभाव में पड़कर कितने ही लोग घर-द्वार, आत्मीय-स्वजन, विषय-सम्पदा, मान-यश—सबसे ममता का सदा के लिए त्यागकर भगवान-लाभ के लिए पथ के भिखारी हो गये हैं। उनके अपने मन में किसी प्रकार की आसक्ति रहने पर यह संभव नहीं हो पाता।

भाइयों के लिए जो करती हैं उसके प्रतिदान में कुछ पायेंगी, उसकी संभावना अथवा उस प्रकार की आशा का लेशमात्र भी उनके मन में कभी नहीं था। और पगली सुरबाला तथा आधी पगली राधारानी की बात तो धरने योग्य भी नहीं है। उनलोगों की सेवा के बदले सामान्य मनुष्य की दृष्टि से, केवल अशान्ति और दुश्चिन्ताएँ ही उनके भाग्य में बदी थीं। किन्तु जो दायित्व उन्होंने अपने कन्धे पर लिया था उसे सर्वदा हँसते हुए, बिना किसी भूल के वे पालन कर गयी हैं। उनके मुँह की हँसी किसी बात से मलिन नहीं हो पाती थी; उनके मन की शान्ति किसी बात से नष्ट नहीं होती थी। संसार के सभी प्रेमों में माँ का प्रेम ही सब से श्रेष्ठ होता है। तब भी माँ के मन में अपनी संतान से प्रतिदान पाने की एक हल्की-सी आशा रहती है। सन्तान के बिल्कुल असत् हो जाने से, उसके आचरण को माँ अधिक दिनों तक स्थिर भाव से सहन नहीं कर पाती। सारदा देवी के हृदय में जो प्रेम था वह गर्भधारिणी जननी के प्रेम से भी गंभीर था। संसार में उस प्रेम की तुलना नहीं मिलती है।

अधिकांश मनुष्यों के प्रेम की क्षमता अत्यन्त सीमित होती है। लोग जब किसी एक व्यक्ति को विशेष रूप से प्रेम करना आरम्भ करते हैं तब अन्य लोगों के ऊपर उनका प्रेम स्वभावतः ही कम हो जाता है। सांसारिक प्रेम हमलोगों के मन को, साधारणतः काफी संकीर्ण कर देता है, दूसरे सभी लोगों के सुख-दुःख के प्रति उदासीन कर देता है। व्यक्ति विशेष के प्रेम के फलस्वरूप मनुष्य लोभी और हिसाबी हो जाता है—कितना प्यार करने से उसके बदले कितना और क्या पाया जा सकेगा—यह भावना मनुष्य के मन को आछन्न कर देती है। किन्तु सारदादेवी के जीवन में जो त्याग, उदारता और शिशु-सी सरलता हम देखते हैं, उसकी तुलना मुश्किल है।

उनका हृदय था समुद्र की भाँति विशाल और गंभीर। घटना-चक्र से जिन लोगों की सुख-सुविधा के लिए सहायता करने का दायित्व उनके ऊपर आ पड़ा था उन लोगों के लिए काफी-कुछ करने पर भी शिष्यों और भक्तों के ऊपर उनका असीम प्यार था। जो कोई भी उनके सम्पर्क में आये हैं, उन्हीं के मन में हुआ है कि सारदादेवी उन्हें ही सबसे अधिक स्नेह करती हैं, वे जैसे उनकी अपनी माँ से बढ़कर हों। यह क्या बहुत सहज बात है ! केवल उनके अल्पबुद्धि आत्मीय स्वजनगण एवं राधू की माँ सोचतीं कि वे अपना सर्वस्व केवल उनलोगों के लिए खर्च नहीं कर या जमा नहीं रख, दूसरों के लिए क्यों खर्च करेंगी ?

विषयों के ऊपर आसक्ति जितनी बढ़ती है, विषय से मन को हटाकर अपनी इच्छा के अनुसार उसे चलाने की क्षमता भी उतनी ही कम जाती है। यह नियम सभी संसारी मनुष्यों पर घटता है, केवल उनलोगों पर नहीं घटता जो भगवान को अपना एकमात्र सहाय-सम्बल कहकर बोध करते हैं। मन उनके सम्पूर्ण वश में होता है, मन को वे स्वेच्छानुसार किसी विषय में लगा पाते हैं; और फिर आवश्यक होने पर क्षणभर में इस विषय को भूलकर अपना सोलहो आना मन अन्य कार्य में लगा देते हैं। सारदादेवी भी अपने मन को स्वेच्छानुसार उपयोग कर पाती थीं। दो घटनाओं का उल्लेख करने से ही यह बात भली भाँति समझ में आ जायेगी।

जयरामबाटी से पाँच मील दूर कोयलपाड़ा गाँव के जगदम्बा आश्रम में उस समय वे कुछ दिनों के लिए

निवास करती थीं। उनकी एक भतीजी का एक छोटा लड़का शाम को मर गया। उस लड़के को काफी प्यार करती थीं। उसकी चिकित्सा के लिए उन्होंने यथासंभव सुव्यवस्था की थी। लड़के की मृत्यु का संवाद पाकर, शोकग्रस्त होने पर जिस प्रकार साधारणतः औरतें रोना-पीटना करती हैं, वे उसी प्रकार रुदन करने लगीं। शाम हो आयी, ठाकुर की आरती का समय हो गया है। उन्हें शोकातुरा देखकर आश्रम में और किसी को आरती करने की प्रवृति नहीं होती है। किन्तु, 'आरती का समय हो गया है' कहकर वे स्वयं ही थोड़ी देर बाद उठ पड़ीं। उनका रुदन रुक गया; आरती और अन्य कार्य-क्रम प्रतिदिन जिस भाव से करती थीं उसी भाव से किया—थोड़ा भी व्यतिक्रम नहीं हुआ। उस समय उनको देखकर और किसी को यह समझने का उपाय नहीं रहा कि अभी ही थोड़ी देर पहले वे रुदन में डूबी हुई थीं।

जिसके ऊपर मनुष्य का विशेष प्रेम रहता है, मरने के समय उसकी बात विशेष रूप से मन में आती है; उसे ही निकट रखकर मनुष्य मरना चाहता है। किन्तु सारदादेवी के जीवन में हम देखते हैं कि बात उल्टी ही हुई। देह-त्याग के कुछ पहले से राधू के ऊपर के उनके सारे आकर्षण समाप्त हो गये। वे बार-बार राधू और अपनी अन्य दो भतीजियों तथा उनके बाल-बच्चों को जयरामबाटी भेज देने की जिद करने लगीं। राधू के छोटे लड़के को अपने समीप घुटने के बल टुघरते आते देख विरक्त भाव से उसे हटा देने का आदेश देतीं। कहतीं "तुमलोगों की माया एकबारगी काट दी है। जा-जा, और माया नहीं कर पाऊँगी।" सभी भक्तों के मन में यह भावना होती कि राधू के चले जाने पर वे क्या लेकर रहेंगी? किन्तु उनका वचन था, "मन उठा लिया है, माया काट दी है, और नहीं।" स्वामी सारदानन्द ने उन्हें अनेक प्रकार से समझा कर कहा, "आपकी इस अस्वस्थता के समय इन लोगों के जाने से आपको कष्ट होगा। आपके थोड़ा स्वस्थ होने पर ये सब जायेंगे।" इस अनुरोध के उत्तर में उन्होंने कहा, "उन्हें भेज देना ही अच्छा होगा ताकि वे सब मेरे समीप फिर नहीं आयें।"

—(क्रमशः)

□ □ □

जीवन की धन्यता एवं नित्य चिन्मयता के लिए
मन की प्रशान्ति के लिए
शाश्वत और अखंड आनन्द के लिए
तथा
परम प्रभु में प्रवेश के लिए
विवेक शिखा पढ़िए
विवेक शिखा का ग्राहक—बनिए और बनाइए।

परमहंस श्रीरामकृष्णदेव की भक्ति-साधना

—श्री उमेश चन्द्र

परमहंस श्रीरामकृष्णदेव एक आदर्श भक्त थे। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में भक्ति के मार्ग पर वे अग्रसर हुए। यह परम सौभाग्य था कि रानी रासमणि देवी के मन्दिर में माँ काली के पुजारी के रूप में सेवा करते हुए इन्हें भक्ति की प्रेरणा मिली। माँ भवतारिणी की पूजा के क्रम में वे इतने भाव-विह्वल हो जाते कि उन्हें अपने अस्तित्व का भी ज्ञान नहीं रह पाता था। भक्ति की वह पराकाष्ठा होती है जब इष्ट का मिलन होता है। श्रीरामकृष्णदेव के शब्दों में :—

"माँ का दर्शन न मिलने से उस समय मेरे हृदय में असह्य वेदना थी, जलरहित करने के लिए लोग जिस प्रकार बलपूर्वक अँगोछे को निचोड़ते रहते हैं, मुझे भी उस ऐसा ही प्रतीत हुआ मानो मेरे हृदय को पकड़कर कोई वैसे ही निचोड़ रहा है। माँ का दर्शन सम्भवतः मुझे कभी भी प्राप्त न होगा यह सोचकर वेदना से मैं तड़पने लगा। व्याकुल होकर मैं यही सोचने लगा कि इस जीवन से क्या लाभ है। उस समय मेरी दृष्टि माँ के मन्दिर में रखी हुई तलवार पर सहसा जा पड़ी। तत्काल ही जीवन को समाप्त करने की भावना से उन्मत्त की तरह दौड़ता हुआ वहाँ जाकर मैं उसे पकड़ ही रहा था कि उसी समय सहसा माँ का मुझे अद्भुत दर्शन मिला तथा बेसुध होकर मैं गिर पड़ा। तदन्तर क्या हुआ, किस तरह वह दिन तथा दूसरे दिन व्यतीत हुए, मुझे इसका कुछ भी पता नहीं है! किन्तु मेरे हृदय में एक अपूर्व घनीभूत आनन्द का स्रोत प्रवाहित हो रहा था और मैंने माँ के साक्षात प्रकाश की उपलब्धि की थी।"[1]

माँ जगदम्बा के प्रति अविचल निष्ठा परमहंस श्रीरामकृष्णदेव की अनन्य भक्ति का प्रतीक है। देवर्षि नारद ने भक्तिसूत्र में भक्ति को परमप्रेमस्वरूपा एवं अमृतस्वरूपा की संज्ञा दी है। भक्ति को परिभाषित करते हुए देवर्षि नारद जी कहते हैं :—

"नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम-
व्याकुलतेति ॥१९॥
अस्त्येवमेवम् ॥२०॥
यथा व्रजगोपिकानाम् ॥२१॥[2]"

"अपने सभी कर्मों को भगवान में अर्पित करना और भगवान का थोड़ा सा विस्मरण होने में परम व्याकुल होना ही भक्ति है। यह उसी प्रकार है जैसे व्रज की गोपियों की भक्ति।

ईश्वर दर्शन के निमित्त हृदय का व्याकुल आग्रह ही श्रीरामकृष्णदेव का प्रधान अवलम्बन था।"[3] तीव्र व्याकुलता की प्रेरणा से उनके भोजन, निद्रा, लज्जा, भयादि शारीरिक एवं मानसिक दृढ़ संस्कार तथा अन्य सारे अभ्यास मानो कहीं विलुप्त हो चुके थे। साथ ही शारीरिक स्वास्थ्यरक्षण करना तो दूर रहा, अपने जीवन की रक्षा की ओर भी उनका किंचित्मात्र ध्यान नहीं था![4]

परमहंस श्रीरामकृष्णदेव की भक्ति-साधना का आधार नवधा भक्ति थी। श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति का वर्णन करते हुए प्रह्लाद ने नवधा भक्ति के लक्षणों को स्पष्ट किया है :—

"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥[5]
/श्रीमद्भागवत ७/५/२३-२४/

1. श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग—स्वामी सारदानन्द, प्रथम खण्ड पृष्ठ 213
2. भक्ति-सूत्र—देवर्षि नारद, ले० हनुमान प्रसाद पोद्दार पृष्ठ 41-45
3. श्रीरामकृष्णलीला प्रसंग—स्वामी सारदानन्द पृष्ठ 236
4. तथैव पृष्ठ 237
5. नवधा भक्ति—जयदयाल गोयन्दका पृष्ठ 7

"भगवान विष्णु के नाम, रूप, गुण और प्रभावादि का श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण तथा भगवान की चरण सेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान में दास्य-भाव, सखा-भाव और अपने को समर्पण कर देना—यह नौ प्रकार की भक्ति है।"

शास्त्रों में किसी एक साधन का भी अवलम्बन कर व्यक्ति अपने प्रेमास्पद की प्राप्ति में पूर्णतया समर्थ हो सकता है। परमहंस श्रीरामकृष्णदेव ने अपने जीवन-काल में शास्त्रोक्त सभी साधनों की उपासना की थी। भक्ति-शास्त्र के अनुरूप ही नवधा-भक्ति का अवलम्बन करना श्रीरामकृष्णदेव के जीवन की सामान्य चर्या थी। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण भक्ति की साधना से ओत-प्रोत था। उनके सुदीर्घ जीवन-काल में भक्ति की साधना क्रम-बद्ध कही जा सकती है। श्रवण से समर्पण तक की साधना-यात्रा उनके जीवन का वह मनोरम सत्य है, जिसे विस्मृत नहीं किया जा सकता है। माँ भवतारिणी के इस अनन्य भक्त ने शास्त्रोक्त विधि से ही अपनी साधना प्रारम्भ की, किन्तु भक्ति की इस भाव-धारा में वे इतने तल्लीन हो जाते कि भक्त और भगवान का भेद नहीं रह पाता था। एक दूसरे में पूर्णतया समाहित हो जाते। आएँ, अब हम उस महान भक्त के भक्ति-साधना में अनुरक्त जीवन की समीक्षा करें।

श्रवण—भगवान के प्रेमी भक्तों द्वारा कथित भगवान के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्व और रहस्यमयी अमृतमयी कथाओं का श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक श्रवण करना एवं उन अमृतमयी कथाओं का श्रवण करके वीणा के सुनने से जैसे हिरण मुग्ध हो जाता है, वैसे ही प्रेम में मुग्ध हो जाना श्रवण भक्ति का स्वरूप है।"[6] परमहंस श्रीरामकृष्णदेव नित्य ईश्वर चर्चा किया करते थे। श्रमद्-भागवत एवं अध्यात्मरामायण आदि धर्मग्रन्थों के श्रवण एवं अनुशीलन की प्राथमिकता उन्होंने अपने जीवन-काल में दी थी। श्रवण से साक्षात ईश्वर दर्शन की घटना का प्रसंग उनके जीवन में आया है। "विष्णु-मन्दिर के बरामदे में बैठकर वे एकदिन श्रीमद्भागवत की कथा सुन रहे थे। सुनते-सुनते भावाविष्ट हो उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण की ज्योतिर्मय मूर्त्ति का दर्शन किया। तदन्तर उन्होंने देखा कि उस मूर्त्ति के पादपद्मों से रस्सी की तरह ज्योति निकलकर सर्वप्रथम उसने श्रीमद्भागवत का स्पर्श किया एवं तदुपरान्त उनके वक्षस्थल में संलग्न होकर उन तीनों वस्तुओं को कुछ देर के लिए उसने एक साथ संयुक्त कर रखा। श्रीरामकृष्णदेव कहते थे कि इसप्रकार के दर्शन से उनके मन में यह दृढ़ धारणा हुई थी भागवत, भक्त और भगवान—ये तीनों भिन्न रूप से प्रकट रहते हुए भी एक ही हैं अथवा एक ही पदार्थ के तीन रूप हैं"[7]

कीर्त्तन—भगवान के नाम, रूप, गुण प्रभाव, चरित्र, तत्त्व और रहस्य का श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक उच्चारण करते-करते शरीर में रोमांच, कण्ठावरोध, अश्रुपात, हृदय की प्रफुल्लता, मुग्धता आदि का होना कीर्त्तन-भक्ति का स्वरूप है।" "कीर्त्तन की अपनी विशिष्टता है। प्रेमास्पद की प्राप्ति के लिए देवर्षि नारद ने कीर्त्तन की महिमा इन शब्दों में गायी है :—

"लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्त्तनात्"[8] ॥37॥

लोकसमाज में भी भगवद्गुण-श्रवण और कीर्त्तन से भक्ति की प्राप्ति होती है। परमहंस श्रीरामकृष्णदेव ने इस सत्य को केवल स्वीकार ही नहीं किया वरन् इसका हृदयंगम भी किया। भक्तों के साथ कीर्त्तन उनकी दैनिक चर्या थी। भक्तों के साथ कीर्त्तन करते हुए मारे आनन्द के वे नाचने लगते थे। "प्रतिदिन श्री रामप्रसाद आदि सिद्ध भक्तों के पदों को गाकर देवी को सुनाना, उनकी दृष्टि में पूजन का अंग बन चुका था। चित्त के गम्भीर उच्छ्वासपूर्ण उन गीतों को गाते हुए उनका हृदय उत्साह से भर जाता था। वे सोचते थे कि रामप्रसाद आदि भक्तों को माँ का दर्शन प्राप्त हुआ था, तब तो जगत-जननी का दर्शन अवश्य मिलता है, तो फिर मुझे उनका दर्शन क्यों नहीं मिलेगा! व्याकुल हृदय से वे कहने लगते—माँ तूने रामप्रसाद को दर्शन दिया है, तो मुझे क्यों

6. नवधा भक्ति—ले० जयदयाल गोयन्दका पृष्ठ 8
7. श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग—प्रथम खण्ड, स्वामी सारदानन्द पृष्ठ 355-356
8. भक्ति-सूत्र—देवर्षि नारद ले० हनुमान प्रसाद पोद्दार पृष्ठ 70

न दर्शन देगी ! मैं धन, जन, भोगसुख कुछ भी नहीं चाहता हूँ, मुझे दर्शन दे ! इस प्रकार प्रार्थना करते हुए नेत्रजल से उनका वक्षस्थल प्लावित हो जाता था ।"[9]

स्मरण—"प्रभु के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्व और रहस्यमयी अमृत कथाओं का जो श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण तथा पठन किया गया है, उनका मनन करना एवं इस प्रकार मनन करते-करते देह की सुधि भुलाकर भगवान् के स्वरूप में ध्रुव की भाँति तल्लीन हो जाना स्मरण भक्ति का स्वरूप है ।" प्रभु के स्मरण से भी प्रभु के मिलन की चर्चा शास्त्रों में की गयी है । स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है :—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।। ८/१४

"हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्त होकर नित्य-निरन्तर मुझको स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें लगे हुए योगी के लिए मैं सुलभ हूँ ।" स्मरण भक्ति की महिमा अपूर्व है तभी तो विष्णुसहस्त्रनाम के आदि में कहा गया है :—

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात् ।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे ।।

'जिसके स्मरणमात्र से मनुष्य जन्मरूपी संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है संसार को उत्पन्न करनेवाले उस विष्णु के लिए नमस्कार है ।"

माँ भवतारिणी का स्मरण करते-करते परमहंस श्रीरामकृष्णदेव भाव-विह्वल हो जाते । भाव-विह्वलता के उन क्षणों में वे समाधिस्थ हो जाते थे ।

पाद-सेवन—श्री भगवान के दिव्य मंगलमय स्वरूप की धातु आदि की मूर्ति, चित्रपट अथवा मानस-मूर्ति के मनोहर चरणों का श्रद्धापूर्वक दर्शन, चिन्तन, पूजन और सेवन करते-करते भगवत् प्रेम में तन्मय हो जाना ही पाद-सेवन कहलाता है ।"[11] भक्ति शास्त्रों ने पाद-सेवन भक्ति की महिमा गायी है । श्री शंकराचार्य कहते हैं कि भगवान की चरण-कमलरूपी नौका ही संसार-सागर से पार उतारने वाली है :—

अपारसंसार समुद्रमध्ये
सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति ।
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्
विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका ।।

"हे कृपालु गुरुदेव ! आप कृपा करके यह बतावें कि इस संसार रूपी समुद्र में मुझ डूबते हुए के लिए सहारा क्या है ! गुरु-भगवान विश्वेश्वर के चरण कमलरूप जहाज ही एकमात्र सहारा है । परमहंस श्रीरामकृष्णदेव माँ के पाद-पद्मों की नित्य-प्रति पूजा किया करते थे । परमहंस श्रीरामकृष्णदेव व्याकुल हो एक गीत गाया करते थे जिसका भावार्थ इस प्रकार है :—

"तुझे यदि माँ काली के दर्शन की अत्यन्त तीव्र इच्छा हो तो जवापुष्प और बिल्व-पत्र लेकर उन्हें भक्ति वन्दन से लिप्त कर माँ के चरणों में पुष्पांजलि दे । व्याकुलता के बाद ही भगवद् दर्शन होते हैं ।"[12]

अर्चन—भगवान के स्वरूप की बाह्य सामग्रियों से तथा भगवान की मानसिक मूर्ति का मानसिक सामग्रियों से एवं उनके साक्षात विग्रह और चरणों का नाना विध उपचारों से श्रद्धा भक्ति-पूर्वक सेवन-पूजन करना और उनके तत्व, रहस्य तथा प्रभाव को समझ-समझ कर प्रेम में मुग्ध होना अर्चन-भक्ति है ।"[13] परमहंस श्रीरामकृष्णदेव की पूजा एवं निष्ठा विलक्षण थी । पूजा, ध्यान आदि करते समय माँ भवतारिणी की प्रस्तर प्रतिमा जीवित, जाग्रत चिण्मय प्रतीत होती थी ।

---

9. श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग—स्वामी सारदानन्द पृष्ठ 211
10. नवधा भक्ति—ले० जयदयाल गोयन्दका पृष्ठ 19
11. नवधा भक्ति—ले० जयदयाल गोयन्दका पृष्ठ 28
12. श्रीरामकृष्णवचनामृत—म अ० सूर्यकान्त त्रिपाठी प्रथम भाग पृष्ठ 14
13. श्री भरत जी में नवधा भक्ति—ले० जयदयाल गोयन्दका पृष्ठ 24

वन्दन--"भगवान के शास्त्रवर्णित स्वरूप, भगवान के नाम, भगवान की धातु आदि की मूर्ति, चित्र अथवा मानसिक मूर्ति को शरीर अथवा मन से श्रद्धा सहित साष्टांग प्रणाम करना या समस्त चराचर भूतों को परमात्मा का स्वरूप समझ कर श्रद्धापूर्वक शरीर या मन से प्रणाम करना और ऐसा करते हुए भगवत्प्रेम में मुग्ध होना वन्दन-भक्ति है।"[14] भगवत्प्रेम की कितनी व्याकुलता परमहंस श्रीरामकृष्णदेव में थी इसका परिचय इन शब्दों से मिलता है :—"ईश्वर के विरह में अधीर होकर मैं कभी-कभी अपना मस्तक जमीन पर घिस डालता था कि चमड़ा छिलकर रक्तमय, लोहू-लुहान हो जाता था ! इस प्रकार ध्यान, भजन, प्रार्थना और आत्म-निवेदन में दिन के उदय और अस्त तक का ध्यान नही रहता था, परन्तु जब संध्या समय द्वादश शिव-मन्दिर में आरती शुरू होती थी और शंख, घंटा, झांझ की एक साथ आवाज होती थी, तब मेरी वेदना का पार नहीं रहता था।"[15]

दास्य-भक्ति—भगवान के गुह्य, तत्व, रहस्य और प्रभाव को जानकर श्रद्धापूर्वक उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञा का पालन करना दास्य-भक्ति है।"[16] दास्य-भक्ति में श्री हनुमान सर्वोपरि थे। श्रीरामकृष्णदेव दास्य-भक्ति में सिद्ध होने के निमित्त अपने में महावीरजी के भाव का आरोप कर कुछ दिन के लिए साधना में प्रवृत हुए थे। निरन्तर महावीर जी का चिन्तन करते हुए वे इतने तन्मय हो जाते कि उन्हें अपने पृथक अस्तित्व तथा व्यक्तित्व का बोध लुप्त हो चुका था। उस समय उनके रीढ़ की हड्डी भी एक इंच बढ़ गयी थी। दास्य-भाव की साधना के समय जनक राजनन्दिनी श्री सीताजी के दर्शन भी उन्हें हुए थे।

सख्यभक्ति—"भगवान के प्रभाव, तत्व, रहस्य और महिमा को समझकर परम विश्वासपूर्वक मित्र भाव से उनकी रुचि के अनुसार बन जाना, उनमें अनन्य प्रेम करना और उनके गुण, रूप, लीला, पर मुग्ध होकर नित्य-निरन्तर प्रसन्न रहना सख्य-भक्ति है।"[17] सख्य-भाव की महिमा श्रीमद्भागवत ने भी गायी है।—

"अहो भागुयमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णब्रह्म सनातनम्॥ १०/४/३२

परमहंस श्रीरामकृष्णदेव मधुर भाव के उपासक थे। श्रीरामकृष्णदेव के शब्दों में :—

"मधुर-भाव में—शान्त, दास्य-सख्य और वात्सल्य—सब हैं।"[18] श्रीरामकृष्णदेव ने मधुर-भाव की उपासना के क्रम में राधा रानी एवं अन्य व्रज-गोपिकाओं की वेश-भूषा सहज ही अपना ली। स्त्रियोचित वेशभूषा को धारण कर श्रीहरि की प्रेमैकलोलुपा व्रजरमणिओं के भाव में क्रमशः इस प्रकार निमग्न हुए थे कि उनका पुरुषतत्व बोध भी समूल नष्ट होकर उनकी बोल चाल, उनका कार्यकलाप, इतना ही नहीं उनके विचार भी स्त्रियों के समान हो गये थे। उन दिनों श्री कृष्ण विरह में वे संतप्त हो जाते कि उनके शरीर के रोमकूपों से रक्त की बून्दें टपका करती थीं। श्रीराधारानी का दर्शन प्राप्त कर ही उन्हें श्री कृष्ण-दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ।

आत्म-निवेदन—"परमात्मा के तत्व, रहस्य, प्रभाव और महिमा को समझकर ममता और अहंकार रहित होकर अपने तन-मन-धन-जन सहित अपने आपको और सम्पूर्ण कर्मों को श्रद्धा और परम प्रेमपूर्वक परमात्मा को समर्पण कर देना आत्म-निवेदन भक्ति है।"[19] श्रीरामकृष्णदेव के ईश्वर दर्शन की तीव्र व्याकुलता उन्हीं के शब्दों में अनुभूत की जा सकती है :—

"उस समय तीव्र क्षोभ से मेरा हृदय इस प्रकार व्याकुल हो उठता था कि मैं शान्त नहीं हो पाता था, पछाड़ खाकर धरती पर गिरकर "माँ अभी तक तूने दर्शन नहीं दिया" यह कहकर मैं जोर से रोने लगता, उस समय मेरा रुदन चारो ओर गूंज उठता था तथा यातना से मैं छटपटाया करता था।"[20]

परमहंस श्रीरामकृष्णदेव ने भक्ति की सभी मूल धाराओं का हृदयंगम किया एवं अन्ततोगत्वा वे महा भाव में लीन हो गये।

---

14. नवधा भक्ति—ले० जयदयाल गोयन्दका पृष्ठ 37
15. श्रीरामकृष्णलीलामृत—पं० द्वारका नाथ तिवारी पृष्ठ 210
16. नवधा-भक्ति—श्री जयदयाल गोयन्दका पृष्ठ 42
17. तथैव पृष्ठ 47
18. श्रीरामकृष्णवचनामृत—ले० म० द्वितीय भाग पृष्ठ 8
19. नवधा-भक्ति—ले० जयदयाल गोयन्दका पृष्ठ 51
20. श्रीरामकृष्णलीला प्रसंग—ले० स्वामी सारदानन्द पृष्ठ 237

तमेव मार्गम्

—शितिकंठ बोधिसत्व

मानव-हृदय के निभृत आकाश में अनुराग का एक अजस्र-गुह्य स्रोत विद्यमान है। यह स्रोत दिव्य सनातन एवं चिन्मय है। यद्यपि यह मानव मात्र के चैत्य अस्तित्व का केन्द्र है, उसकी आध्यात्मिक सत्ता का मूलाधार है, तथापि अधिकांश शक्तियों में यह बाह्य आवरणों के नीचे गुप्त रहता है। राग और द्वेष के अनादि द्वन्द्व में परिणत होने वाले मानवीय अहंकार के हठजड़ित बाह्य आवरण की गहराई में यह दिव्यता प्रायः सुषुप्त रहती है। आध्यात्मिक साधना मनुष्य की चैत्य सत्ता में गुप्त इस दिव्यता का क्रमशः अनावरण करती है।

अनुकूलता के लोभ और प्रतिकूलता के भय से विक्षिप्त मन में राग-द्वेष का अनादि द्वन्द्व सदैव क्रियमाण रहता है। लोभ से आन्दोलित, भय से संकुचित तथा स्वार्थ से परिच्छिन्न चित्त में राग-द्वेष का यह त्रिताप-चक्र घूमता रहता है। इस चक्र में सदैव भ्रमित होते रहने से अहंभाव व्यक्तित्व में परिछिन्न होकर सीमित अहंकार बन जाता है, जिसे सुख-दुख के भोग के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं मालूम पड़ता। त्रिताप पीड़ित चित्त को अपनी ही अन्तः सत्ता में गुप्त इस दिव्यता का संधान नहीं होता।

इसके लिए क्या उपाय है? निज सत्ता के गुह्य केन्द्र पर जलनेवाली इस दिव्य अनुराग-शिखा के क्रमिक अनावरण का क्या विधान है? क्या हम संत सद्गुरुओं की अमृतवाणी के प्रकाश में जीवन-निर्माण की योजना स्वीकार कर सकते हैं? क्या हम सुने-हुए भगवान में आस्था कर सकते हैं? यह ठीक है कि हमें ईश्वरानुभव या आत्मानुभव नहीं हुआ है, किन्तु गुरुवाणी के आलोक में उक्त अनुभव को उपलब्ध होने की राह है। क्या हमें सद्गुरुवाणी में इतनी निष्ठा है कि हम आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास के साधन-पथ का अवलम्बन कर सकें, जिससे उक्त दिव्यता का क्रमिक उद्घाटन होता है?

आस्था क्या है? भगवान है, प्रभु है, सत्य है, ब्रह्म है, परमात्मा है, आत्मा है, जीवन-मूल्यों की स्थिति है—या यों कहें कि 'है' है—इस तरह अस्ति-तत्त्व को मान लेना, अथवा उक्त शब्दों से जो संकेत होता है, उसको अपनी समग्र मान्यता प्रदान करना ही, आस्था करना है। इस तरह की आस्था विकल्प-ग्रस्त बुद्धि की क्रिया नहीं है, बल्कि सरल चित्त का निर्विकल्प स्वीकार है, जिस पर बुद्धि-वृत्ति के परिवर्त्तन का कोई असर नहीं होता है। यह तो स्पष्ट है कि इस तरह की मान्यता या स्वीकृति को हम पुनः अपने अस्वीकार से ही मिटा सकते हैं, अन्यथा नहीं। अर्थात् उस पर क्रिया शक्ति या चिन्तन शक्ति के द्वन्द्व-ग्रस्त अन्वयन का कोई प्रभाव नहीं होता है। 'प्रभु है', यह वेद-वाणी या सद्गुरु-वाणी है। इसको समग्र, पूर्ण एवं निर्विकल्प स्वीकार प्रदान करना, आस्था करना है। इस तरह आस्था करना कर्म एवं चिन्तन का परिणाम-विस्तार न होकर, कर्मातीत एवं चिन्तन-रहित, स्वधर्मवत् स्वीकार है। कर्म के सम्यक् अनुष्ठान से शक्तिस्पंदी विश्राम, चिन्तन के सदुपयोग से अचिन्तता तथा भाव-शक्तिमयी आस्था के निर्विकल्प स्वीकार का निष्पादन करने से दिव्य श्रद्धा का उद्रेक होता है। अर्थात् समग्र, निर्विकल्प, सरल किन्तु दृढ़ आस्था से ही हृदयग्राही, अलौकिक श्रद्धा का उन्मेष होता है। आस्थारूप मान्यता या स्वीकार में जिस हृदय-शक्ति का नियोजन होता है, क्रमशः तपः पूत होकर वही दृढ़ होती हुई, अलौकिक श्रद्धा का उर्ध्व-विस्तार होती है।

वेदवाणी या सद्गुरु वाणी में आस्तिक भाव का होना, महापुरुषों के आध्यात्मिक अनुभवों के प्रति सतत्-बुद्धि-वृत्ति का संचार होना, संशय-रहित, सरल चित्त से अनुभूत सत्य को स्वयं का स्वीकार प्रदान करना—श्रद्धा तत्त्व का ही सम्यक् उन्मेष होना है। आस्थामय जीवन में

श्रद्धा का विकास होता है। आस्था आस्तिकता से प्रेरित होती है, और हमारी बिखरी हुई भाव-वृत्तियों को समेट कर धीरे-धीरे एकनिष्ठ बनाती है। हमारा अहम् भाव अनेक मान्यताओं से बना हुआ है, अनेक स्वीकृतियों से गठित हुआ है। हम अपनी अनेक मान्यताओं या स्वीकृतियों को एक मान्यता या स्वीकृति में बदल सकते हैं। हम अपनी अनेक आस्थाओं को एकनिष्ठ, सघन आस्थामय जीवन में रूपांतरित कर सकते हैं।

हम कह सकते हैं कि अदृश्य भगवान्, अलख परमेश्वर या अज्ञात सत्य में किस प्रकार आस्था की जा सकती है? तो उत्तर होगा कि दृश्य शरीर तथा संसार, दिखने वाले परिवर्त्तन एवं विनाश तथा जाने-हुए जगत में आस्था करने का प्रश्न भी कहाँ उठता है? संदेह या संशय तो उन्हीं विषयों में होता है जिसे हम थोड़ा जानते हैं, किन्तु जिसके संबंध में पूरी जानकारी नहीं हुई है। हमें शरीर में परिवर्त्तन देखकर, उसके संबंधों या संबंधियों में अस्थायित्व देखकर जगत् में रहने वाले अनादि असंतुलन के विनाश-प्रवाह को जानकर, शरीर तथा संसार के जीवन में एक अनिवार्य अभावरूपता का ज्ञान होता है। जबतक हम इस ज्ञान का आदर करके विवेक-बुद्धि का अनुसरण नहीं करते, तबतक शरीर तथा संसार की आशा नहीं मिटती है, जिस कारण जीवन में निस्संदेहता नहीं आती। सन्देह या संशय मनुष्य की बुद्धि-वृत्ति से निकलते हैं, और अधूरी जानकारी के लक्षण हैं। जानकारी पूरी हो जाने पर इनकी कोई उपयोगिता भी नहीं है। सुख-के-भोग एवं दुःख-से-पलायन की रुचि से निर्मित अहं भाव में संशय या संदेह अनिवार्य हैं, किन्तु इस अनादि द्वन्द्व से अतीत एक सनातन, दिव्य चिन्मय जीवन है, यह हमारी आस्था ही हो सकती है। शास्त्र या सद्गुरुवाणी का समर्थन तो अवश्य ही इस आस्था को प्राप्त है, किन्तु संशय पूर्वक हमारी बुद्धि-वृत्ति इसे प्रभावित करने या गलत सिद्ध करने की ओर नियोजित भी नहीं हो सकती है। क्योंकि जिसकी कोई जानकारी नहीं है, उसमें संदेह करने या होने का भी कोई स्थान कहाँ है? अर्थात् आस्था करने की शक्ति बुद्धि-वृत्ति से भिन्न है, और इसके सदुपयोग में बुद्धि-वृत्ति के अन्वयन की तरह संदेहवाद या तर्काग्रहवाद का कोई स्थान नहीं है। इस तरह यह स्पष्ट है कि आस्था करने की शक्ति यद्यपि संदेह या तर्क-वृत्ति से भिन्न है, किन्तु फिर भी यह विवेक-बुद्धि या सतोगुणी बुद्धि के तर्क-संस्कार से असमर्थित भी नहीं है।

मानव मात्र त्रिशक्ति का गतिशील संघटन है। क्रिया शक्ति, ज्ञान शक्ति एवं भावशक्ति प्रत्येक मनुष्य में कार्य करती रहती है। क्रियाशक्ति के सदुपयोग से सम्यक् कर्म, ज्ञान शक्ति के सदुपयोग से निर्द्वन्द्व निस्संदेहता एवं भावशक्ति के सम्यक् विकास से श्रद्धा-विकासपूर्वक ईश्वर लाभ संभव है। आस्था एवं श्रद्धा हमारी भावशक्ति की गुह्य स्फुरणाएँ हैं; अतः इनके सम्यक् सम्पोषण एवं संवर्द्धन से ही मानव-जीवन में ईश्वर-विश्वास का सनातन वटवृक्ष उद्घाटित होता है। अतः यद्यपि आस्था-श्रद्धा के सनातन बीज मानव हृदय में निहित हैं; और भाव-शक्ति के क्रमिक उन्नयन के गुरु-सम्मत साधन-पथ हैं तथा इस तरह हमारी विवेक-बुद्धि से भी समर्थित हैं, तथापि यह तर्काग्रही या संशय-ग्रस्त यावत् बुद्धि के समर्थन या असमर्थन के निरपेक्ष भी है। आस्था एवं श्रद्धा तो अनुराग एवं आस्तिक्यभाव से प्रेरित होती हैं, जो मनुष्य के भाव-अस्तित्व में गुह्य रूप से निहित हैं। इन्हें तर्क-बुद्धि या संशय-संदेह के कारणों से नहीं, बल्कि ईमानदार एकनिष्ठता के हृदयाकाश में ही सम्यक् संपोषण प्रदान किया जा सकता है।

आस्था का प्रत्यक्ष आधार तो सद्गुरु वाणी या वेद वाणी है, किन्तु इसका परोक्ष स्रोत वह अनुराग तत्त्व है, जो मनुष्य मात्र की हृदय-गुहा में प्रच्छन्न, उसकी आध्यात्मिक सत्ता का, गुह्याधार है। स्पष्ट है कि मानवीय रागात्मक अस्तित्व का आध्यात्मिक आधार होते हुए भी यह रागद्वेषातीत है और हमारे सामाजिक या बौद्धिक व्यक्तित्व से आवृत है। आस्थारूप सरल चित्त के समग्र स्वीकार को मानव की इस आध्यात्मिक भाव सत्ता का अज्ञात समर्थन भी रहता है। जिस अनाम या सर्वनाम को हम अपना सरल भाव-स्वीकार प्रदान करते हैं, उसकी ओर हृदय की कोमल वृत्तियों का उठना, उसकी निकटता और छत्रछाया के लिए हृदय का भाव-विस्तार या रागा-

त्मिका वृत्ति का गतिशील होना स्वाभाविक है। भगवान के अस्तित्व को स्वीकार सामान्यतः सभी करते हैं, किन्तु फिर भी आधुनिक युग में हम प्रायः आधुनिक मानव की आस्थाहीनता की ही चर्चा सुनते हैं। आधुनिक युग के पाश्चात्य एवं भारत के मनीषियों ने भी आधुनिक मानव की व्यापक आस्थाहीनता पर गहरी चिंता व्यक्त की है। अर्थात् वास्तविक आस्था सजीव होती है और गतिशील होती है। 'भगवान सर्वत्र हैं, सदैव हैं,—इस प्रकार के स्वीकार से यह भाव होने लगता ही है कि वे यहाँ हैं, और अभी हैं। इस तरह उनके अस्तित्व के स्वीकार के साथ ही उनकी महिमा की ओर हमारे अन्तर्भाव की स्वाभाविक उन्मुखता होती है। उनकी महिमा से आकर्षित होकर उनमें श्रद्धा होती है; उनकी महिमा है, उनका अनंत ऐश्वर्य, सौन्दर्य एवं माधुर्य। जगत् की अभावरूपता या भोगी अहम् की कभी न मिटनेवाली खिन्नता से, लोभ और भय के बंजर में दौड़कर, थका हुआ मनुष्य अखण्ड-अनन्त शांति, नित्य चिन्मय जीवन या अनन्त रस के लिए उनकी आशा या अभीप्सा करता है। आस्था-श्रद्धा हमारे आध्यात्मिक जीवन को गतिशील बनाती हैं, क्योंकि वह देहाध्यस्त अहम् भाव की सुखोन्मुखी जगद्गति नहीं है, वरन देहस्थ गुह्य अनुराग-तत्त्व का जागरण है, देहोत्तर परम प्रेम की ओर, जो भक्तों का भगवान् है। इस तरह की आस्था या श्रद्धा मन्मुखी नहीं होती; वह गुरुमुखी, वरोन्मुखी होती है, और इसीलिए मनुष्य इसकी अन्तः प्रेरणा से स्वतः यम-नियम एवं संयम शील आदि सद्गुणों से समन्वित होकर भगवद् विश्वास का अधिकारी होता है। आस्था में भगवान् का स्वीकार एवं श्रद्धा में उक्त स्वीकार का अनुराग-प्रेरित अन्तर्भावन होता है, तथा उनकी अकथ-अवर्णनीय महिमा के प्रति हृदय की कोमलतम वृत्तियों की तरल अंतर्गति होती है, जो भगवान् और भक्त के दिव्य-चिन्मय, किन्तु प्रत्यक्ष, संबंध का द्वार खोल देती है।

अनाम, अलख, अदृश्य या अज्ञात परमेश्वर के प्रति हृदय की कोमल वृत्तियों का जागरण, उनका ऊर्ध्व उन्मीलन, श्रद्धा का ही उन्मेष है। श्रद्धा रूप अन्तः संबल मानव-जीवन का विभुतत्त्व हैं। यह समस्त लोक समुदाय श्रद्धामय है। सत्त्व गुण के तारतम्य के अनुसार विभिन्न मनुष्यों में श्रद्धा के विभिन्न रूप हैं, और जिसकी जैसी श्रद्धा है, वैसा ही वह है।

> सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
> श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एवसः॥"
> (गीता, अ० १७ श्लो० ३)

"अर्थात् हे अर्जुन! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है, तथा यह पुरुष श्रद्धामय है। अतः जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयम् भी वही है। अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है।"

सात्त्विक श्रद्धा हमें गुरुवाणी या ऋतंभराप्रज्ञा की ओर अग्रसर करती है, क्योंकि वह विवेक के दिव्य आलोक से स्पंदित तथा सजीव रहती है। सात्त्विक श्रद्धा आस्तिकतामयी बुद्धि है; यही वह विवेकवती बुद्धि है, जो हठधर्मी अहम् को सरलतापूर्ण, सहज विश्वास का अधिकारी बनाती है। क्या हम ऐसी आवश्यकता अनुभव करते हैं कि भगवान् में विश्वास करना चाहिए? क्या हम विश्वास कर सकते हैं?

हम प्रायः अपने शरीर तथा उसके बल पर धन-शक्ति और बुद्धि-वैभव में विश्वास करते हैं। हम अपनी सुख-सुविधा और मन की अनुकूलता में विश्वास करते हैं। सदैव मान-महिमा से मंडित, सर्वत्र प्रशंसित और यशभागी होने की अनादि-अदम्य वृत्तियों से परिचालित होते हैं। हमारे अनेक विश्वास हैं, अनेक प्रकार की आस्थाएँ हैं। यद्यपि हम यह जानते हैं कि शरीर अपने मूल घटकों में विलीन हो जाता है और इस तरह अभी एक उपयोगी करण मात्र है, जिसके स्वास्थ्य एवं बल का कर्त्तव्य पालन हेतु सदुपयोग ही कर सकते हैं, फिर भी हम उसमें विश्वास का आश्रय ढूँढ़ते हैं। किन्तु क्या शरीर और संसार विश्वास के यथार्थ आश्रय होने योग्य हैं? क्या इनसे हमारा स्थायी संबंध हो सकता है?

जब हम विश्वास करने की अद्भुत शक्ति का उपयोग अविवेक ग्रस्त चित्त से शरीर या संसार में करते हैं, तो घोर निराशा या अभावमयता ही पाते हैं। हम शरीर

को 'मैं' मानकर संबंधियों तथा अनुकूल परिस्थितियों से मोह-ममता के बन्धन बनाते हैं। इस तरह, शरीर संबंधी तथा समाज से अपने मन की रुचि पूरी करने की अनन्त दुराशा में आबद्ध होकर जीते हैं। अभाव, नीरसता तथा परिच्छिन्नता का अंतहीन महाजाल फैला रहता है, और हमारा मन विषय-सुख को स्थायी बनाने की दुराशा से ग्रस्त रहता है। विवेक-विरोधी विश्वास या मनमुखी स्वच्छंदताचार से चकित होकर भी हम अपनी वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ रहते हैं। हम उसमें विश्वास का आश्रय ढूँढ़ते हैं, जो स्वयं हमारा त्याग करते जाते हैं; जैसे शरीर, संबंधी, सुख या संसार। जो हमें छोड़ रहे हैं, अथवा जिनका छूटना अनिवार्य है, उनमें अल्प काल ही सामीप्य है, उनके प्रति हमारा कर्त्तव्य है, दायित्व है। उनसे स्थायी सम्बन्ध या सुख या नित्य संग की आशा विवेक-विरोधी मान्यताओं के कारण ही है। हम दिखते हुए शरीर या संसार या संबंधियों की सेवा ही कर सकते हैं। किन्तु वह भी तभी सम्भव होता है, जब मोह-ममता न हो, प्रमाद या जड़ता पूर्वक अपने सुख के लिए उनका उपयोग करने की दुराशा से ग्रस्त नहीं हों। ज्ञात एवं दृश्य से निवृत होकर हम स्वतः अज्ञात या अदृश्य को विश्वास के एकमात्र परम आश्रय के रूप में, स्वयं का विवेक-सम्मत, अनिवार्य स्वीकार प्रदान करते हैं, जो हमारी आस्था की पूर्णता है। अपनी अनन्त, अकथ महिमा से समन्वित वह एकमात्र विश्वासपात्र हमारी उद्रिक्त श्रद्धा का नित्य आलम्बन भी होता है, जो हमारा विश्वास है, या जिसमें हम विश्वास करते हैं। पूजा, प्रार्थना एवं प्रणति-प्रणिधान के अंतर्भाव से गर्भित, श्रद्धा-स्पंदित, वैकल्यपूर्ण साधक को विश्वास के नित्य आलंबन की संनिधि होती है।

श्रद्धा-विश्वास से सम्बन्ध-संग उपलब्ध होता है। हृदय-गुहा में गुप्त अजस्र-अनुराग, भक्तिमयी समर्पिति की मधुर-तरल प्रवाह की तरह अनंत रस के सागर की ओर स्वतः गतिशील होता है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की सनातन कथा कहने का अमृत-निमित्त होने के लिए प्रार्थना की है :—

"भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धा-विश्वासरूपिणौ
याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वांतस्थमीश्वरम्"

"अर्थात् मैं श्रद्धा एवं विश्वास के जीवन्त स्वरूप भगवती भवानी एवं भगवान् शिव को नमित हूँ, जिनके बिना सिद्ध पुरुषों को भी अपने अन्तस्थ ईश्वर का दर्शन लाभ नहीं होता है।"

अन्यान्य अनेक विश्वासों से निवृत्त होते ही भगवद् विश्वासों की मानवीय माँग का उदय होता है; उनके अनन्त सर्वसामर्थ्य और अपरिमेय महिमा की ओर स्वतः श्रद्धा का अन्तर्प्रवाह होता है।

विश्वास करते ही इस आत्मीयता के संचार से चिद्-भूमि अपने परम इष्ट के साक्षात की व्याकुलता से भरने लगती है। यह पथ आस्था, श्रद्धा या विश्वास का अनु-राग-पथ है। श्रद्धा-विश्वास से ही योगी को योग, ज्ञानी को ज्ञान तथा भक्त को भगवान् से अभिन्नता होती है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है :—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११/५३—५४).

"अर्थात् हे अर्जुन! जैसा तुमने मुझे देखा है, वैसा वेद, तप, दान, यज्ञादि से नहीं देखा जा सकता है। हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा ही इस प्रकार मेरा देखा जाना, मुझे तत्त्व से जानना और मुझमें प्रवेश पाना सम्भव है।"

———

बोध-कथा

—प्रस्तुति : सुरेश कुमार प्रशान्त, एम० ए०

प्राचीन काल में चित्रकेतु नाम के एक न्यायप्रिय तथा प्रजा-पालक राजा हुए थे। उन्हें कई रानियाँ थीं, पर एक भी पुत्र नहीं था। उन्हें सारा संसार व्यर्थ लगता था। संयोग से एक दिन महर्षि अंगिरा उनके यहाँ पधारे। उनके यथोचित सम्मान के बाद राजा ने अपनी मनोव्यथा उनसे कह सुनायी। महर्षि अंगिरा ने पुत्रेष्टि-यज्ञ का विधान किया तथा परिणामस्वरूप रानी को नियत समय पर एक पुत्र हुआ। राजा की प्रसन्नता का ठिकाना न था। जिस रानी को पुत्र हुआ था उसे राजा अन्य रानियों की अपेक्षा ज्यादा मानते थे। वे सदा उसे सर-आँखों पर रखते थे जिसे देखकर अन्य रानियाँ जलती थीं। एक दिन जब वह बालक पालने में था तथा उसकी माँ किसी काम में व्यस्त थी—अन्य रानियों ने उस बालक को विष दे दिया। रानी बच्चे को मृत देख पछाड़ खा कर गिर पड़ी। राजा भी मूर्च्छित हो गये। उन दोनों के करुण-क्रन्दन से मानों दिशाएँ रो पड़ीं, जड़-चेतन सिसक उठे। राजा ने अन्न-जल ग्रहण करना छोड़ दिया तथा बालक की लाश पर निरन्तर प्रलाप करते रहे।

सूचना अंगिरा को मिली तो वह महर्षि नारद को लेकर राजा के पास पहुँचे। ब्रह्मज्ञानी नारद ने अनेक तरह से राजा को समझाया, मगर राजा ने अन्न-जल-ग्रहण नहीं किया। अंगिरा ने कहा—"महाराज यह पुत्र आपका कोई नहीं था। उसका आप से मात्र इतने ही दिनों का संबंध था। विधाता के विधान में हस्तक्षेप नहीं हो सकता। शोक न करें। इसे भूल जाने में ही आप सब का कल्याण है। इसे माया का एक खेल मात्र जानिए।"

पर, लाख समझाने पर भी राजा का मोह नष्ट नहीं हुआ। राजा ने कहा—महाराज, मुझे पुत्र चाहिए, पुत्र के बिना जीना व्यर्थ है। यदि वस्तुतः आप हमारा कल्याण चाहते हैं तो हमें हमारा पुत्र वापस कर दें।

महर्षि अंगिरा के संकेत पर नारद ने अपने योगबल से तुरत उस बच्चे की आत्मा को बुला दिया और बोले—"हे जीवात्मा, तुम्हारे माता-पिता तुम्हारे लिए शोकाकुल हैं। क्यों न तुम अपने माँ-पिता का ख्याल कर इसी देह में रह जाते तथा अखंड राज्य करते ?"

नारद की यह बात सुनते ही बालक उठ बैठा। राजा अत्यन्त प्रेम तथा पुलक से उसकी तरफ बढ़े परन्तु बालक ने उनका तिरस्कार करते हुए दूर हटकर कहा—"कौन माता-पिता ? कौन पुत्र ? किसका पुत्र ? आप लोग कौन हैं ? मुझे पकड़ते क्यों हैं ? मैं तो आप का कोई नहीं हूँ। आपलोग कई बार मेरे माता-पिता रह चुके हैं। पुत्र-पुत्री रह चुके हैं। पता नहीं, मैं कितनों की संतान बना हूँ तथा कितने मेरी संतान बने हैं। आज किसको सबकुछ याद है ? मुझे सिर्फ इतना पता है कि मैं अपने कर्मों का फल भोग रहा हूँ। यह सब माया का नाटक है तथा तब तक चलेगा, जब तक सृष्टि है। आत्मा अमर है तथा शरीर से उसको मोह क्यों ? आपलोगों से मेरा कोई संबंध नहीं है। मेरे लिए इस तरह शोक करना अनुचित है।" यह कहकर देखते-ही-देखते जीवात्मा पुनः चला गया। रह गयी मृत देह.....।

महर्षि नारद और महर्षि अंगिरा भी चल पड़े। राजा और रानी भी उनके पीछे-पीछे चल पड़े। उन्हें सच्चा ज्ञान मिल गया था।

—लोक महाविद्यालय
बनियापुर, सारण